ॐ श्रीपरमात्मने नमः

वर्ष ५४] 'नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः' [अङ्क ८

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,६०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०६, अगस्त १९८०

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

[भारत-सरकारद्वारा उपलब्ध कराये गये रियायती मूल्यके कागजपर मुद्रित]
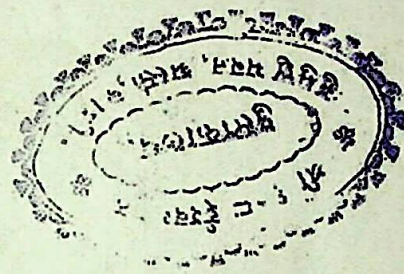
महारास

परब्रह्म श्रीकृष्णकी दिव्य रसमयी रास-लीला

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता २ । ७१)

वर्ष ५४ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०६, अगस्त १९८० { संख्या ८
पूर्ण संख्या ६४५

महारास

आजु मोहन रची रासरस-मंडली ।
उदित पूरन निसानाथ निर्मल दिसा,
देखि दिनकर-सुता सुभग पुलिन-स्थली ॥
कुंद, मंदार, अरविंद, मकरंद-मद,
पुंज-पुंजनि मिले मंजु गुंजत अली ।
गान-रस-तान के बान बेध्यो विश्व,
जान अभिमान मुनि ध्यान रति दलमली ॥
रस-भरे मध्य मंडल विराजत खरे,
नंदनंदन-कुँवर भानुजू की लली ।
देखु अनिमेषु लोचन गदाधर जुगल,
लेखु जिय आपने भाग-महिमा फली ॥

—श्रीगदाधर भट्ट

कल्याण-वाणी

मनमें कभी बुरे विचार नहीं लाने चाहिये, साथ ही वाणीसे भी किसी बुरे शब्दका उच्चारण नहीं करना चाहिये । अश्लील, असत्य, अहितकर, व्यर्थ, अप्रिय, अपमानजनक, क्रोधभरी, दर्पपूर्ण, नास्तिकताका समर्थन करनेवाली, भय और अभिमानसे भरी वाणी कभी नहीं बोलनी चाहिये । ऐसी वाणीका उच्चारण करनेसे वहाँका वायुमण्डल दूषित होता है । जिसको लक्ष्यकर ऐसी वाणी बोली जाती है, उसपर तो बुरा असर होता ही है; जहाँतक वह ध्वनि जाती है, वहाँतकके प्राणियोंके मनोंपर भी वह बहुत बुरा प्रभाव डालती है । जैसे शूरताकी वाणीसे मनुष्यमें शूरता आती है, वैसे ही कायरोंकी भयभरी वाणी लोगोंको कायर बना देती है । रणवाद्य और चारणोंकी जोशीली कविताओं और संतोंकी वैराग्यकी वाणियोंका अद्भुत प्रभाव प्रत्यक्ष देखा जाता है।

इसी प्रकार शरीरसे—किसी भी इन्द्रियसे—ऐसी कोई चेष्टा नहीं करनी चाहिये जो वायुमण्डलको दूषित करनेवाली हो । सारांश यह कि मनको सदा शुद्ध संकल्पों और सत्-विचारोंसे भरे रखो, वाणीके द्वारा सदा सत्य, हितकर, मधुर और उत्तम वचन बोलो और शरीरसे सर्वदा सर्वथा उत्तम क्रिया करो । इसीमें अपना और जगत्का हित है । इसी प्रकार जहाँ ऐसे शुद्ध मन, वाणी और शरीरवाले सज्जन महानुभाव रहते हों, उन्हींके समीप रहो और उन्हींका सङ्ग करो । न स्वयं बुरा वायुमण्डल पैदा करो और न बुरे वायुमण्डलमें निवास ही करो ।

जो अपने मनमें वैरकी भावना रखता है, वह जगत्में अपने वैरी उत्पन्न करता है । जो प्रेमके संकल्प करता है, वह प्रेमियोंकी संख्या बढ़ाता है । जो भोगोंमें मन लगाता है—भोगोंमें रचा-पचा रहता है, वह लोगोंमें भोगासक्ति बढ़ाता है; जिसके मनमें शूरता है, वह शूरताका वातावरण उत्पन्न करता है; जो कायर है, वह कायरता फैलाता है; जो भक्त है, वह भक्तिका प्रसार करता है; जो अभक्त है वह नास्तिकता फैलाता है; जो भयसे काँपता है वह आसपास भयका विस्तार करता है; जो निर्भय रहता है वह सबको निर्भय बनाता है; जो सुखी है, यह जगत्को सुखी करता है; जो रात-दिन शोक, दुःख और विषादमें डूबा रहता है, वह सबको ये ही चीजें देता है और जो भगवान्में प्रेम करता है, वह भगवत्-प्रेमियोंकी संख्या बढ़ाता है । अतएव सब विषयोंको सर्वदा दूरकर केवल भगवत्प्रेमसे ही हृदयको सर्वथा भर दो । कदाचित् ऐसा न कर सको तो मनमें सदा सात्त्विक शुद्ध आदर्श विचारोंका पोषण करो और उन्हींको बढ़ाओ । ऐसा करनेसे तुम्हारे आस-पासका वायुमण्डल सात्त्विक बन जायगा । सात्त्विक विचारोंकी क्रमशः वृद्धि होते रहनेसे तुम्हारी संकल्पशक्ति बढ़ जायगी, फिर तुम अपने सद्विचारोंको बहुत दूरतक—लोगोंके हृदयकी गहराईतक—पहुँचाकर सबको सात्त्विक बना सकोगे । तुम सुखी बनोगे और बिना किसी उपदेश-आदेशके स्वभावतः ही जगत्के बहुत बड़े भागको भी सुखी बना सकोगे ।

वे सात्त्विक, आचरणीय, शुद्ध, सद्गुण ये हैं—अहिंसा, सत्य, शौच, दया, प्रेम, दान, क्षमा, संयम, त्याग, वैराग्य, निरभिमानता, एकान्तप्रियता, कोमलता, सरलता, नम्रता, सेवाभाव, सहिष्णुता, स्वधर्ममें प्रेम एवं परधर्मके प्रति सम्मान, द्वेषहीनता, समता, सन्तोष, गुणग्राहकता, दोष-दृष्टिका अभाव, सुहृत्पन, ममता तथा अहंकारका अभाव, मान-बड़ाईकी सर्वथा अनिच्छा, सर्वभूतहित और भगवत्परायणता इत्यादि ।

बस, मन-वाणी-शरीरसे निरन्तर सावधानी और लगनके साथ इन्हीं सब सद्गुणों और सत्य संकल्पोंको बढ़ाते रहो । स्वयं तर जाओगे और असंख्य प्राणियोंको तारनेमें सहायक होओगे । संसार भी तुम्हें भला कहेगा और परलोक भी तुम्हारा कल्याणमय होगा । —'शिव'

जगद्गुरु शंकराचार्य तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्यवर्य अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीजयेन्द्र सरस्वतीजी महाराजका प्रसाद

[मुक्ति प्राप्त करने-हेतु मानव-जीवन]

संसारमें अनेक प्रकारके जीव हैं। सभी अपने स्वभावानुकूल खाना, सोना, वंश-वृद्धि करना आदि कार्य करते हैं। प्रायः मनुष्य भी इन तीन कामोंको करते हैं। किंतु मनुष्य-जीवनकी प्राप्ति इन तीन कामोंको करनेके लिये ही नहीं, अपितु उसका परम एवं चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है। एतदर्थ मनुष्यको ईश्वर-भजन आदि काम भी करने पड़ते हैं। वस्तुतः ये कार्य भगवत्कृपासे ही सम्पन्न होते हैं। आद्य शंकराचार्यने विवेक-चूडामणिके प्रारम्भमें प्रायः ये ही बातें कही हैं—

जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतः पुंस्त्वं ततो विप्रता
तस्माद्वैदिकधर्ममार्गपरता विद्वत्त्वमस्मात्परम्।
आत्मानात्मविवेचनं स्वनुभवो ब्रह्मात्मना संस्थिति-
र्मुक्तिर्नो शतकोटिजन्मसु कृतैः पुण्यैर्विना लभ्यते॥
(वि० चू० २)

ईश्वरकी कृपा प्राप्त करनेके लिये भी मनुष्यको स्वाध्याय, सत्सङ्ग, देवदर्शन, आत्मानात्मविवेचन, ईश्वरप्रणिधान इत्यादि करना होता है। यदि मानव-शरीर प्राप्त न हो तो यह सब पुण्याचरण एवं मोक्ष सम्भव नहीं है। सर्वव्यापक भगवान् मन्दिरोंमें विशेषशक्तिसे प्रतिष्ठित, अधिष्ठित एवं विराजमान हैं। उत्तम साधना करनेवाले व्यक्तिके हृदयमें भी ईश्वर विराजमान है, किंतु सम्मान्य व्यक्तियोंके अन्तः-करणमें ईश्वरके विराजमान होनेपर भी वह प्रकट नहीं होता। अतः भगवान्‌के साक्षात्कारके बिना सभी प्राणी दुःखी ही रह जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥

गीताके **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** (१८ । ५८) इस वचनका भी प्रायः यही भाव है।

विधिपूर्वक देवार्चा-प्रतिष्ठापित देव-मन्दिरोंमें साधना करनेसे भगवान् हृदयमें शीघ्र प्रकट होते हैं; जैसे गो-माताके पूरे शरीरमें दुग्ध है, किंतु उसे उसके स्तनसे ही प्राप्त किया जा सकता है। बिजलीके तारोंमें विद्युत् है, लेकिन वह दिखायी नहीं देती। यदि हमें इसे देखना है तो बल्बके स्वीचको ऑन करना होगा। ऐसे ही भगवान्‌के मन्दिरमें साधना करनेवालोंके हृदयमें भगवान् शीघ्र प्रादुर्भूत होते हैं। ईश्वरके आशीर्वाद प्राप्त करनेके मार्गमें जप, प्रार्थना, जिज्ञासादि साधनोंसे प्राप्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ हैं।

धर्मसे अर्थ मिलता है, उसे ईश्वरको समर्पित करनेसे पुण्य मिलेगा एवं पुण्य प्राप्त करनेसे शान्ति एवं मुक्ति मिलेगी। अर्थसे लोग प्रायः कामोपभोगकी सिद्धि करते हैं। पर वह आगे चलकर दुःखद होता है। अतः यह अर्थका उचित उपयोग नहीं हैं। इसीलिये भागवतकार कहते हैं—मात्र धर्मगतिक अर्थका कामोपभोग एक प्रकारसे उसका सर्वनाश ही है।—**'नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः** (भाग० १। २।५)।' हाँ, धर्मसे अविरुद्ध काम ईश्वरकी कृपामें बाधक नहीं है; क्योंकि भगवान्‌ने धर्मसे अविरोधी कामको अपना स्वरूप कहा है—**'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ** (गीता ७। ११)।' इस प्रकार शुद्ध धर्मानुष्ठान कर ईश्वरको समर्पित करनेसे मुक्ति प्राप्त होगी।

मनुष्य-जीवनमें सुख चाहने-हेतु खाना, सोना, पैसा प्राप्त करना सभी चाहते हैं, किंतु वास्तविक सुख-साधन ये नहीं हैं। बार-बार जो जन्म होता है, इसकी

समाप्तिके लिये ही हमें मनुष्य-जीवन मिला है। मोक्षके बाद फिर कोई जन्म नहीं होता। मनुष्य-जीवन आनन्दमय है, लेकिन ईश्वर-आराधनासे ही इसे सफल बनाया जा सकता है; अन्यथा जन्म-मरणकी श्रृङ्खला नहीं टूटती। **'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्'**—लगा ही रहता है। इसलिये अपार संसार-समुद्रको पार करनेके लिये ईश्वरकी कृपा प्राप्त करना ही एक विशेष उपाय है।

भगवान्की कृपासे ही मुक्ति मिलेगी; जैसे ध्रुव-सुदामाको मिली। केवल सांसारिक माँगोंके लिये ईश्वर-आराधना करना बुद्धिमानी नहीं है। मुक्तिके लिये ईश्वर-कृपा होनेपर मुक्तिका आनन्द उसमें अन्तर्भूत हो जाता है। अतः मनुष्यको चाहिये कि ईश्वरका आशीर्वाद प्राप्त कर जीवन-मरणके चक्रसे मुक्ति प्राप्त कर ले। इसके लिये उपयुक्त जीवन उसे प्राप्त है।

पुराण-तत्त्वविमर्श—

पुराणोंकी गम्भीरता

(लेखक—अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज)

ज्ञान अपौरुषेय होता है; अर्थात् वह जीव, जगत् या ईश्वर किसीके द्वारा निर्मित नहीं होता है। ज्ञानके प्रकाशमें ही ईश्वर, जीव, जगत्की सिद्धि होती है। वह अनादि एवं अनन्त है। उसका न जन्म है, न मृत्यु। वह घट, पट, मठ इत्यादि विषयोंके भेदसे अनेक जान पड़ता है, परंतु रहता एक ही है। दूसरेके (घट-पटादिके) भेदसे 'एक' भिन्न-भिन्न नहीं होता है। वह स्वयं है, उसे किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं है। देश-काल, प्रकृति-विकृति, सामान्य-विशेष इत्यादिसे भी उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। वह अविनाशी एवं अद्वितीय है। यदि उस ज्ञानसे आत्मा पृथक् हो तो जड़ होगा। यदि ज्ञान आत्मासे पृथक् होगा तो दृश्य, जड़, परोक्ष तथा कल्पित होगा। दोनों परिच्छिन्न होंगे। अतएव ज्ञान प्रत्यगात्माका निजस्वरूप ब्रह्म ही है। इसी सत्यके प्रकट करनेके लिये वेदको अपौरुषेय कहते हैं। वह ज्ञानस्वरूप है। सृष्टि-पर-सृष्टि, प्रलय-पर-प्रलय होते रहते हैं, परंतु ज्ञान ज्यों-का-त्यों रहता है—एक-रस रहता है। ब्रह्मा सृष्टिके समय पूर्व-पूर्व कल्पके वेदका ही यथापूर्व उच्चारण करते हैं। शब्दानुपूर्वीकी नित्यता ज्ञानकी नित्यताका ही रूप है। अस्तु!

पुराणोंमें इस सत्यको स्वीकार किया गया है; परंतु उनका कहना है कि कोई भी शब्द या वाक्य पहले स्मृतिका विषय होता है, तदनन्तर उच्चारणका। इसीसे ब्रह्माके हृदयमें पहले पुराणोंका स्मरण हुआ और पश्चात् वेदोंका उच्चारण। मत्स्य, ब्रह्माण्ड, पद्म इत्यादि पुराणोंमें यह स्पष्ट घोषणा है कि ब्रह्माने सर्वप्रथम अपने हृदयमें पुराणोंका स्मरण किया; पश्चात् उनके मुखसे वेदोंका उच्चारण हुआ।

पुराणं सर्वशास्त्राणां ब्रह्मणा प्रथमं स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥

अतएव पहली बात यह ध्यानमें रखने योग्य है कि पुराणोंका महत्त्व कुछ कम नहीं है। वेद पहले हैं कि पुराण, इस विवादमें न पड़कर उनमें शाश्वत सत्यका जो निरूपण है उसको ग्रहण करना चाहिये। यदि पदार्थ सत्य है तो वह चार दिन पहले कहा गया या पीछे इसका सत्यपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये ऐतिहासिक दृष्टिसे किसी पुराणको श्रेष्ठ या कनिष्ठ बताना उचित नहीं है।

पुराणोंको क्रमिक विकासकी दृष्टिसे देखना भी उनके स्वरूपके बोधमें बाधा ही है। क्या कहीं क्रमिक

विकासका अन्त नहीं है? जहाँ उसका अन्त है वहाँसे पुनः प्रारम्भ भी है। ह्रासले ही विकासका उदय होता है और विकाससे ही ह्रासका। इन दोनोंके बीच जो विभाजक रेखा बनायी जाती है वह सापेक्ष एवं कल्पित होती है। कालकी अनादि धारामें कभी भी अथ और इति नहीं है। अतः ऐतिहासिक दृष्टिकोणकी प्रधानता देनेसे पुराणोंके स्वरूपका बोध नहीं हो सकता है। जहाँ हमारा 'मैं' होता है, परिच्छिन्न रूपमें वहींसे भूत, भविष्य एवं पूर्व, पश्चिम इत्यादि देश-कालका भेद मान्य होता है। देश-कालका विभाग कहीं अज्ञातसे उत्पन्न नहीं होता। अतएव भौगोलिक-दृष्टिसे भी पुराणका समीक्षण, निरीक्षण उनके स्वरूपका पूर्ण प्रकाशक नहीं है। इतिहास घटना-प्रधान होता है। पुराण शिक्षा-प्रधान होते हैं। शिक्षा शाश्वत सत्यके आधारपर होती है। चेतनाका विलास विविध वृत्तियोंके रूपमें प्रकट होता है और सत्का स्पन्दन नाना कर्मोंके रूपमें। आनन्दका उल्लास भोक्ता एवं भोग्य है। इनकी अद्वयतामें अनेकताका अत्यन्त अभाव है। अतः पुराण-पुरुषोत्तमके वास्तविक स्वरूपका शोध-बोध प्राप्त करनेके लिये निर्विकार सत्यका अनुरोध स्वीकार करना आवश्यक है। अधिकार-भेदसे अनुष्ठानमें विरोध होता है। उपासनामें अनुरोध, योगमें निरोध परंतु पुराण-ज्ञानमें सबका ही अविरोध रहता है। अतएव पुराण सबको ही उदरस्थ किये हुए होते हैं। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिसको पुराण आत्मसात् न करते हों। चार्वाकोंके प्रत्यक्ष, बौद्धोंके अनुमान, नैयायिकोंके उपमान, सांख्योंके आगमानुमान, मीमांसकोंके अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि तथा ऐतिहासिकोंके ऐतिह्य प्रमाणसे भी विलक्षण प्रमाण है पुराणोंका। उस प्रमाणका नाम है 'सम्भवप्रमाण'। इस अनिर्वचनीय सृष्टिप्रवाहमें जो कि अनादि एवं नित्य है, सम्भव-असम्भव क्या है। किसने विश्वके कण-कण एवं क्षण-क्षणकी गणना करके एवं मनोधाराका मनन करके यह निश्चय किया है कि इस विश्वमें ऐसा होना असम्भव है? सबमें सब कुछ होना सम्भव है। अतः किसी निर्वाचनके द्वारा किसी भी कथाको सम्भव न मानना पुराणका दोष नहीं है, अपनी बुद्धिका ही दोष है। अतः श्रीशंकराचार्यने शारीरक भाष्यमें पुराणोंको **'सम्भवदुक्तिकम्'** कहकर स्मरण किया है। सब कुछ सम्भव है। अतः पुराणोंके तलस्पर्शी दृष्टिकोण, विशाल हृदयता, उदारता एवं उदात्तताको देख-देखकर प्रेक्षावान् पुरुष अत्यन्त आह्लादित होते हैं।

पुराणोंकी भाषाके आधारपर उन्हें पूर्ववर्ती या पश्चाद्वर्ती निश्चित करना भी असंगत है। जिसने भाषा-तत्त्वका साक्षात्कार कर लिया है, वह कठिन अथवा सरल कैसी भी भाषा लिख सकता है। वह अपनी भाव-राशिके साथ जैसी शब्दराशिका सम्बन्ध जोड़ना चाहे, जोड़ सकता है। श्रोताओंके अधिकारको देखकर भाषाका प्रयोग किया जा सकता है। नारायणकी वाणी ही पुराणोंके रूपमें प्रकट हुई है। अतएव अध्यात्मवादी उसका आध्यात्मिक अर्थ लेते हैं तो अधिदैववादी आधिदैविक दृष्टिसे प्राणियोंके भाव-वैचित्र्यका, प्रकृति-वैचित्र्यका और विचार-वैचित्र्यका चित्रण करते हैं; कुछ ग्रहणके लिये कुछ त्यागके लिये। अतः पुराणोंकी भाषा समझनेके लिये अत्यन्त गम्भीर दृष्टि रखनी पड़ती है। उनमें कहीं-कहीं संयम-समाधिके द्वारा साक्षात्कार किये हुए पदार्थोंका वर्णन है तो कहीं लौकिक रीतिसे। कहीं-कहीं दैव एवं आसुरी भाषाओंका भी प्रयोग है। कहीं वर्णाधिक्य है, कहीं वर्णलोप है। कहीं प्रहेलिका (पहेली) है तो कहीं वर्णविकार। कहीं-कहीं च्युतसंस्कृति* दोष भी है। परंतु यह ध्यान

*—च्युतसंस्कृति-दोष व्याकरण-विरुद्ध पद-योजना है। यह काव्यदोषोंमें प्रधान है, पर पुराणोंमें आर्षप्रयोग कहकर समाधान किया जाता है।

रखना चाहिये कि वैदिक व्याकरणके समान ही पुराणोंका व्याकरण भी पृथक् है। पुराणोंमें लौकिक व्याकरणका संस्कार अपेक्षित नहीं होता। यह श्लोक प्रसिद्ध है —

यान्युज्जहार माहेशाद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
तानि किं पदरत्नानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे॥*

पुराणोंमें वेदोंका उपबृंहण (विस्तार) है। वेदोंकी छोटी-सी बातको विस्तार करके लोकभोग्य (साधारणजनबोध्य) बनाया गया है। सभी शास्त्र, दर्शन एवं काव्यके मूल पुराणोंमें उपलब्ध होते हैं। यथा-तथाके समान कथा शब्द भी यह सूचित करता है कि यह सिद्धान्त किस प्रकार सिद्ध होता है। कथा=कथम्= ऐसा क्यों? जीव, जगत् ईश्वरके याथात्म्यके प्रकाशनके लिये एवं जीवनकी मूलभूत शिक्षाओंको सरल रूप देनेके लिये पुराणोंकी सृष्टि हुई है। सिद्धान्त एक है, समझनेकी प्रक्रिया पृथक्-पृथक् है। प्रक्रिया-भेदसे सिद्धान्त-भेद नहीं होता। एक ही सत्यको शिव, विष्णु इत्यादि नामोंसे कहा गया है। नामरूप वाचारम्भणमात्र हैं।† इनका सार एक ही सत्य है। वक्ताओंके भेदसे भी सत्यमें किसी प्रकार भेद नहीं होता। वेद, शास्त्र, दर्शन, स्मृति, पुराणप्रभृति—सब एक ही सत्यमें समन्वित होते हैं। उनमें कहीं भी तात्पर्य-भेद नहीं होता। **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति,' 'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति'**—इन श्रुतियोंका उपबृंहण ही पुराण है। बिना पुराणोंकी सहायताके वेदोंके परमार्थका ज्ञान नहीं होता। (अतः पुराणोंकी महिमा अक्षुण्ण है। आवश्यकता है कि उनकी गहराईमें जाकर उनकी वास्तविक गम्भीरताका बोधकर उसका जीवन-साधनामें सदुपयोग किया जाय।)

पुराणाध्ययन—एक दृष्टिकोण

पुराण भारतीय संस्कृतिके विशाल प्राचीन प्रकाश-स्तम्भ हैं। उनकी मान्यता वेदवत् है; क्योंकि उनका अस्तित्व वेदोंमें भी है‡ और वे वस्तुतः वेदोंके विस्तार हैं। ऐतरेय ब्राह्मणोपक्रममें आचार्य सायणने अपने भाष्यमें लिखा है कि 'वेदके अन्तर्गत देवासुर-युद्धका वर्णन 'इतिहास' कहलाता है और 'पहले यह असत् था और कुछ नहीं'—इत्यादि जगत्की प्रथमावस्थासे लेकर सृष्टि-क्रियाका वर्णन 'पुराण' कहलाता है। बृहदारण्यकके भाष्यमें आचार्य शंकरने भी लिखा है कि 'उर्वशी पुरूरवा आदिके संवादस्वरूप ब्राह्मण-भागको इतिहास कहते हैं तथा 'पहले असत् ही था' इत्यादि सृष्टि-प्रकरणको पुराण कहते हैं।' यही कारण है कि इतिहास-पुराणको वेदसमूहमें पाँचवाँ वेद कहा गया है—'इतिहासः पुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते।'

सुदीर्घकालीन भारतीय संस्कृतिके प्रकाशक पुराणोंकी भाषा और शैली पौराणिकी है, निजी है। वह विषयानुरूप कहीं आधिभौतिकरूपमें, कहीं आधिदैविकरूपमें और कहीं आध्यात्मिकरूपमें अपनी प्राञ्जलता बनाये हुए है। आचार्य वल्लभके श्रीमद्भागवतमहापुराणको 'समाधि-भाषाका आप्त ग्रन्थ' कहनेमें पौराणिकी भाषाके इसी वैचित्र्यकी दिशाका उद्बोधन है। अतः पुराण-रहस्यको समझनेके लिये पौराणिकी भाषाका यथार्थ विज्ञान जानना अत्यन्त आवश्यक है; अन्यथा उनके आख्यान, उपाख्यान, गाथा आदिमें निहित तथ्यात्मक सत्यका साक्षात्कार होना अत्यन्त दुरूह है। अतः पुराणोंकी अद्वितीय विशेषताके वास्तविक बोधके लिये भारतीय प्राचीन परम्पराशैलीमें उनका वास्तविक अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

---

*—भगवान् व्यासदेवने माहेश्वर व्याकरणार्णवसे जिन पदरत्नोंको आहृत किया—जिन्हें लेकर पुराणोंकी संरचना की, वे कहीं पाणिनिके 'गोष्पद'—गोपदमें हो सकते हैं?—कदापि नहीं। †—वाणीकी क्रियाका विषयमात्र है।

‡ द्रष्टव्य—अथर्व सं० ७१।७।२४, शतपथ ब्रा० १३।४।३।१३ तथा १४।६।१०।६ और बृहद्० उप० २।४।१०।

'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'

(ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृत-वचन)

भगवान्का प्रादुर्भाव भूतप्राणियोंकी उत्पत्तिकी अपेक्षा ही नहीं, किंतु योगियोंके प्रकट होनेकी अपेक्षा भी अत्यन्त विलक्षण है। उनका प्रकट होना दिव्य है, अलौकिक है, अद्भुत है। भगवान् मूल प्रकृतिको अपने अधीन किये हुए ही अपनी योगमायासे प्रकट होते हैं। जगत्के छोटे-बड़े सभी चराचर जीव प्रकृतिके और अपने गुण, कर्म, स्वभावके वशमें हुए प्रारब्धके अनुसार सुख-दुःखादि भोगोंको भोगते हैं। यद्यपि योगिजन साधारण मनुष्योंकी भाँति ईश्वरकी मायाके और अपने स्वभावके पराधीन तो नहीं होते हैं, तथापि उनका जन्म मूल प्रकृतिको वशमें करके ईश्वरकी भाँति लीलामात्र नहीं होता। परंतु परमात्मा किसीके वशमें होकर प्रकट नहीं होते। वे अपनी इच्छासे केवल कारणवश ही अवतरित होते हैं। इसीलिये भगवान्ने गीता-(४। ६) में कहा है कि 'अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ'——

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥

ईश्वरका प्रकट होना उनकी लीला और जीवोंका जन्म लेना दुःखमय व्यापार है। ईश्वर प्रकट होनेमें सर्वथा स्वतन्त्र हैं और जीव जन्म लेनेमें सर्वथा परतन्त्र हैं। ईश्वरके जन्ममें हेतु है जीवोंपर उनकी अहैतुकी कृपा और जीवोंके जन्ममें हेतु है उनके पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म-संस्कार। जीवोंके शरीर अनित्य, पापमय, रोगग्रस्त, लौकिक और पाञ्चभौतिक होते हैं एवं ईश्वरका शरीर परमदिव्य अप्राकृत होता है। वह पाञ्चभौतिक नहीं होता। श्रीमद्भागवतमें श्रीब्रह्माजी वत्सापहरणके बाद प्रार्थना करते हैं——

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि ।
नेशे महि त्ववसितुं मनसाऽऽन्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ॥
(१० । १४ । २)

'देव ! आपके इस दिव्य प्रकट देहकी महिमाको भी कोई नहीं जान सकता, जिसकी रचना पञ्चभूतोंसे न होकर मुझपर अनुग्रह करनेके लिये अपने भक्तोंकी इच्छाके अनुसार ही हुई है। फिर आपके उस साक्षात् आत्मसुखानुभव अर्थात् विज्ञानानन्दघन स्वरूपको तो हमलोग समाधिके अतिरिक्त अन्य किसी साधनसे जान ही नहीं सकते।'

इससे स्पष्ट है कि भगवान्का शरीर लौकिक पञ्चभूतोंसे बना हुआ नहीं होता। वह तो उनका विशेष संकल्पज होता है, दिव्य होता है, अप्रकृतिसे बना होता है, पाप-पुण्यसे रहित होनेके कारण अनामय अर्थात् रोगसे रहित एवं विशुद्ध है। विज्ञानानन्दघन परमात्माके सगुणरूपमें प्रकट होनेके कारण ही उस रूपको आनन्दमय भी कहा गया है; मानो सम्पूर्ण अनन्त आनन्द ही मूर्तिमान् होकर प्रकट हो गया है, या यों समझिये कि साक्षात् प्रेम ही दिव्य मूर्ति धारण कर प्रकट हो गया है। इसीसे जो उस आनन्द और प्रेम-समुद्र भगवान्के दिव्य शरीरका तत्त्व जान लेता है, वह उनके प्रेममें मुग्ध हो जाता है, आनन्दमय बन जाता है। प्रेम और आनन्द दोनों वास्तवमें एक ही वस्तु हैं; क्योंकि प्रेमसे ही आनन्द होता है। प्रकृतिके सम्बन्धके बिना मनुष्यकी चर्म-दृष्टिसे वे दृष्टिगोचर नहीं हो सकते। इसीलिये परमेश्वर अपनी प्रकृतिके शुद्ध सत्त्वको साथ लिये हुए प्रकट होते हैं अर्थात् जिन दिव्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इत्यादिका योगी लोगोंको अनुभव होता है, उन्हीं दिव्य धातुओंसे सम्बन्ध किये हुए भगवान् प्रकट होते हैं। भक्तोंपर अनुग्रह कर वे विज्ञानानन्दघन परमात्मा जब अपने भक्तोंको दर्शन देकर कृतार्थ करना चाहते हैं तब वे अपनी लीलासे उपर्युक्त दिव्य

तन्मात्राओंको स्वाधीन करके प्रकट होते हैं। यतः नेत्र रूपको देख सकता है, अतएव भगवान्‌को रूपवाला बनना पड़ता है, त्वचा (त्वगिन्द्रिय) स्पर्शको विषय करती है, अतएव भगवान्‌को स्पर्शवाला बनना पड़ता है, नासिका गन्धको विषय करती है, अतएव भगवान्‌को दिव्य गन्धमय वपु धारण करना पड़ता है। इसी प्रकार मन और बुद्धि भी मायाका कार्य होनेसे (मायासे ही उत्पन्न होनेके कारण) मायासे सम्मिलित वस्तुको ही चिन्तन करने और समझनेमें समर्थ हैं। इसलिये निराकार सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन परमात्मा प्रकृतिके गुणोंसहित अपने भक्तोंको विशेष ज्ञान करानेके लिये साकार होकर प्रकट होते हैं। प्रकृतिके सहित उस शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माके प्रकट होनेका तत्त्व सबकी समझमें नहीं आता। इसीलिये भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा था—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
(गीता ७। २५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ, इसीलिये यह अज्ञानी मनुष्य मुझ जन्म-रहित, अविनाशी परमात्माको तत्त्वसे (वास्तव रूपमें) नहीं जानता है अर्थात् मुझे जन्मने-मरनेवाला मानता है।'

तत्त्वको न जाननेके कारण ही लोग भगवान्‌का अपमान भी किया करते हैं और भगवान्‌की शक्ति-सामर्थ्यकी सीमा बाँधते हुए कह देते हैं कि विज्ञाना-नन्दघन निराकार परमात्मा साकाररूपसे प्रकट हो ही नहीं सकते। वे साक्षात् परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको परमात्मा न मानकर एक मनुष्यविशेष मानते हैं। भगवान्‌के सम्बन्धमें इस प्रकारकी धारणा किसी चक्रवर्ती विश्व-सम्राट्‌को एक साधारण ताल्लुकेदार मानकर उसका अपमान करनेकी भाँति ईश्वरकी अवज्ञा या उनका अपमान करना है। भगवान्‌ने गीता—(९। ११)-में ही कहा है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

'सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परमभावको न जाननेवाले मूढ़लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योग-मायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझको साधारण मनुष्य मानते हैं।'

वस्तुतः निराकार सर्वव्यापी भगवान् जीवोंके ऊपर दया करके धर्मकी संस्थापनाके लिये दिव्य साकार रूपसे समय-समयपर अवतरित होते हैं। इस प्रकार शुद्ध सच्चिदानन्द निराकार परमात्माके दिव्य गुणोंके सहित प्रकट होनेके तत्त्वको जो जानता है वही पुरुष उस परमात्माकी दयासे परमगतिको प्राप्त होता है।

जिस प्रकार भगवान्‌के जन्मकी अलौकिकता है उसी प्रकार भगवान्‌के कर्मोंकी भी अलौकिकता है। भगवान्‌के कर्मोंकी दिव्यता जाननेसे पुरुष भी परम-पदको प्राप्त हो जाता है।

भगवान्‌के कर्मोंमें क्या दिव्यता है, उसका जानना क्या है और जाननेसे मुक्ति कैसे होती है, इस विषयमें कुछ लिखा जाता है।

भगवान्‌के कर्मोंमें अहैतुकी दया, समता, स्वतन्त्रता, उदारता, दक्षता और प्रेम आदि गुणोंके भरे रहनेके कारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या, सिद्ध योगियोंकी अपेक्षा भी उनमें अत्यन्त विलक्षणता होती है। वे सर्वशक्तिमान्, सर्वसामर्थ्यवान्, असम्भवको भी सम्भव कर देनेवाले होनेपर भी न्यायविरुद्ध कोई कार्य नहीं करते; वे विज्ञानानन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण सर्वभूतप्राणियोंपर परम दया करके धर्मकी स्थापना और जीवोंका कल्याण किया करते हैं। उनकी प्रत्येक क्रियामें प्रेम एवं दक्षता, निष्कामता और दया परिपूर्ण है।

जब भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावनमें थे, तब उनकी बाललीलाओंकी प्रत्येक प्रेममयी क्रियाको देखकर गोप और गोपियाँ मुग्ध हो जाया करते थे। उनके तत्त्वको जाननेवाले जितने भी स्त्री-पुरुष थे, उनमें कोई एक भी ऐसा नहीं था जो उनकी प्रेममयी लीलाको देखकर आत्म-विस्मृत न हो गया हो। उनकी मुरलीकी तानको सुनकर मनुष्य तो क्या, पशु-पक्षीतक मुग्ध हो जाते थे। उनके शरीर और वाणीकी चेष्टाएँ ऐसी अद्भुत थीं, जिनका किसी मनुष्यमें होना असम्भव है। प्रौढ़ अवस्थामें भी उनके कर्मोंकी विलक्षणताको देखकर उनके तत्त्वको जाननेवाले प्रेमी भक्त पद-पदपर मुग्ध हुआ करते थे। अर्जुन तो उनके कर्म और आचरणोंपर तथा हाव-भाव-चेष्टाको देख-देखकर इतने मुग्ध हो गये थे कि वे सदा श्रीकृष्णके संकेतपर कठपुतलीकी भाँति कर्म करनेके लिये तैयार रहते थे।

भगवान्‌के लिये कोई कर्तव्य न होनेपर भी वे केवल लोक-संग्रहके लिये जीवोंको सन्मार्गमें लगानेके लिये ही कर्म किया करते हैं। गीता-(३ । २२)-में भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

'हे अर्जुन ! यद्यपि मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथा किंचित् भी प्राप्त होनेयोग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है तो भी मैं कर्ममें ही बर्तता हूँ।'

भगवान्‌को समता भी बड़ी प्रिय है। इसलिये गीता-(६ । ९)में भी उन्होंने समताका वर्णन किया है—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

'सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुगणोंमें तथा धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी जो समान भाववाला है, वह अतिश्रेष्ठ है।'

केवल कहा ही नहीं है, अपितु काम पड़नेपर भगवान्‌ने अपने मित्र और वैरियोंके साथ बर्ताव भी समताका ही किया है। महाभारत-युद्धके प्रारम्भमें दुर्योधन और अर्जुन युद्धके लिये मदद माँगने द्वारिका गये और दोनोंने ही भगवान्‌से युद्धमें सहायताकी प्रार्थना की। भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि एक ओर तो मेरी एक अक्षौहिणी नारायणी सेना है और दूसरी ओर मैं अकेला हूँ; पर मैं युद्धमें अस्त्र ग्रहण नहीं करूँगा। इससे यह बात सिद्ध हुई कि भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुन और दुर्योधन दोनोंके साथ समान व्यवहार किया—यद्यपि भगवान् श्रीकृष्णको अर्जुन अत्यधिक प्रिय थे, वे कहनेको ही दो शरीर थे। वसुदेवजीने एक बार अर्जुनसे कहा था—

योऽहं तमर्जुनं विद्धि योऽर्जुनः सोऽहमेव तु॥
यद् ब्रूयात्तत्तथा कार्यमिति बुध्यस्व माधव।

(महा० मौसल ६ । २१-२२)

(अर्जुन !) 'श्रीकृष्णने मुझसे जो बात कही है, वह इस प्रकार है—'जो मैं हूँ उसे आप अर्जुन समझें और जो अर्जुन है वह मैं हूँ। वह जैसा कहे, आप वैसा ही कीजियेगा।'

इतना होते हुए भी वे अपने प्रिय सखा अर्जुनके विपक्षमें लड़नेवाले उनके शत्रु दुर्योधनको भी समानभावसे सहायता करनेको तैयार हो गये। भगवान्‌ने दुर्योधनकी सहायता सैन्यबलसे की। संसारमें ऐसा कौन पुरुष होगा जो अपने प्रेमी मित्रके शत्रुको उसीसे युद्ध करनेके कार्यमें सहायता दे ! परंतु भगवान्‌की समताका कार्य विलक्षण था। इस मददको पाकर दुर्योधन भी अपनेको कृतकृत्य मानने लगा और उसने ऐसा समझा कि मानो मैंने श्रीकृष्णको ठग लिया—

कृष्ण चापहृतं ज्ञात्वा सम्प्राप परमां मुदम्।
दुर्योधनस्तु तत्सैन्यं सर्वमादाय पार्थिवः॥

(महाभा० उद्योगपर्व ७ । २४)

भगवान् श्रीकृष्णके प्रभावको दुर्योधन नहीं जानता था, इसीलिये उसने इसमें उनकी उदारता और समता

तथा महत्ताका तत्त्व न जानकर उसे मूर्खता समझा। जो लोग महान् पुरुषोंके प्रभावको नहीं जानते, उनको उन महापुरुषोंकी क्रियाओंके भीतर दया, समता एवं उदारता इत्यादि गुण दृष्टिगोचर नहीं होते। दुर्योधनके उदाहरणसे यह बात प्रत्यक्ष प्रमाणित होती है।

भगवान् श्रीकृष्ण जो कुछ भी करते थे उन सबके अंदर समता, निःस्वार्थता, अनासक्तता आदि भाव पूर्ण रहते थे। इसीसे वे कर्मोंके द्वारा कभी लिपायमान नहीं होते थे। गीतामें उन्होंने कहा भी है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥
(४। १३-१४)

'अर्जुन! गुण और कर्मोंके विभागसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मेरे द्वारा रचे गये हैं, उनके कर्ताको भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू अकर्ता ही जान; क्योंकि कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझको कर्म लिपायमान नहीं करते। इस प्रकार जो मुझको तत्त्वसे जानता है वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता।' वे गीता-(९। ९)में और स्पष्टतासे कहते हैं—

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥

'हे अर्जुन! उन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश स्थित हुए मुझ परमात्माको वे कर्म नहीं बाँधते।'

भगवान्की तो बात ही क्या है, तत्त्वको जाननेवाला पुरुष भी कर्मोंमें लिपायमान नहीं होता। अब यह बात समझनेकी है कि उपर्युक्त श्लोकोंके तत्त्वको जानना क्या है? वह यही है कि भगवान् श्रीकृष्णको कर्मोंमें आसक्ति, विषमता और फलकी इच्छा नहीं रहती थी। जो मनुष्य यह समझकर कि कर्मोंमें आसक्ति, फलकी इच्छा एवं विषमता ही बन्धनके हेतु हैं, इन दोषोंको त्यागकर अहङ्काररहित होकर कर्म करता है, वही कर्मोंके तत्त्वको जानकर कर्म करता है। इस प्रकार कर्मके तत्त्वको जानकर कर्म करनेवाला कर्मसे नहीं बँधता। ऐसा समझकर जो स्वयं इन दोषोंको त्यागकर कर्म करता है, वही इस तत्त्वको समझता है। जैसे संखिया, पारा आदिके दोषोंको मारकर उनका सेवन करनेवालेको हानिकी जगह परम लाभ पहुँचता है, उसी प्रकार विषमता, अभिमान, फलकी इच्छा और आसक्तिको त्यागकर कर्मोंका सेवन करनेवाला मनुष्य उनसे न बँधकर मुक्त हो जाता है।

दूधमें विष मिला हुआ है, यह जानकर कोई भी मनुष्य उस दूधका पान नहीं करता। यदि करता है तो उसे अत्यन्त मूढ़ समझना चाहिये। इसी प्रकार कर्मोंमें आसक्ति, कर्तृत्व-अभिमान, फलकी इच्छा और विषमता आदि दोष विषसे भी अधिक विष होकर मनुष्यको बार-बार मृत्युके चक्करमें डालनेवाले हैं। जो पुरुष इस प्रकार समझता है वह उपर्युक्त दोषोंसे युक्त होकर कभी कर्म नहीं करता।

भगवान् श्रीकृष्णके कर्मोंमें और भी अनेक विचित्रताएँ हैं, जिनको हम नहीं जान सकते और जो यत्किंचित् जानते हैं उसको भी समझना बहुत कठिन है। हम तो चीज ही क्या हैं, भगवान्की लीलाओंको देखकर ऋषि, मुनि और देवतागण भी मोहित हो जाया करते हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि एक समय श्रीकृष्णचन्द्रजीकी लीलाओंको देखकर ब्रह्माजीको भी मोह हो गया था। उन्होंने ग्वालबालोंके सहित बछड़ोंको ले जाकर एक कन्दरामें रख दिया। महाराज श्रीकृष्णचन्द्रजीने यह जानकर तुरंत वैसे ही दूसरे ग्वालबाल और बछड़े रच लिये और गौओं तथा गोपियों आदि किसीको यह मालूम नहीं हुआ कि यह बालक तथा बछड़े दूसरे ही हैं।

वास्तवमें ब्रह्माजी-जैसे महान् देव ईश्वरके विषयमें मोहित हो जायँ, यह बात युक्तिसे सम्भव नहीं मालूम

होती; किंतु ईश्वरके लिये कोई बात भी असम्भव नहीं है। वे असम्भवको भी सम्भव करके दिखा सकते हैं। विचारनेकी बात है कि इस प्रकारके अलौकिक तथा अद्भुत कर्म साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है योगीलोग भी नहीं कर सकते।

परमात्माके जन्म और कर्मकी दिव्यताका विषय बड़ा अलौकिक और रहस्यमय है। अर्जुन भगवान्का अत्यन्त प्रिय सखा था, इसीलिये भगवान्ने यह अत्यन्त गोपनीय रहस्य अर्जुनसे कहा था।

इस प्रकार भगवान्के जन्म और कर्मकी दिव्यताको जो तत्त्वसे जानता है वही भगवान्को तत्त्वसे जानता है। अतएव हम सबको इनके तत्त्वको समझनेकी कोशिश करनी चाहिये। जो पुरुष इस तत्त्वको जितना ही अधिक समझेगा, वह उतना ही आनन्दमें मुग्ध होता हुआ परमात्माके समीप पहुँचेगा। उसके कर्मोंमें भी अलौकिकता भासने लगेगी और वह भगवान्के प्रभावको जानकर प्रेममें मुग्ध हो शीघ्र ही परमगति प्राप्त कर लेगा।

धर्म और अधर्म

(लेखक—स्वामी श्रीसनातनदेवजी)

श्रीभगवान् युगपद् विरुद्धधर्म-गुणोंके आश्रय हैं। वे परस्पर विरोधी धर्मोंके आश्रय हैं और उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है। यदि उनसे भिन्न कुछ भी माना जाय तो उनकी पूर्णता बाधित हो जायगी। जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकार दोनों आकाशमें ही रहते हैं, किंतु आकाश इन दोनोंसे विलक्षण है, इसी प्रकार विभिन्न विरुद्ध धर्मोंके अधिष्ठान यद्यपि भगवान् ही हैं, तथापि वे उन सभीसे असंस्पृष्ट हैं। धर्म और अधर्मकी उत्पत्ति भी शास्त्रोंमें श्रीभगवान्से ही बतायी गयी है। परंतु धर्म भगवान्के वक्षःस्थलसे प्रकट हुआ है और अधर्म उनके पृष्ठ-भागसे; अर्थात् धर्म भगवान्के सामने रहता है और अधर्म उनके पीछे।

वे सर्वान्तर्यामी प्रभु ही मनुष्यमें विवेकरूपसे विराजते हैं। वे सर्वदा उसे यह बताते रहते हैं कि क्या करनेयोग्य है और क्या करनेयोग्य नहीं है। जो मनुष्य विवेक-भगवान्का आदर करता है, वह धर्मात्मा है और वह एक दिन निश्चय ही अपने चरम लक्ष्य—श्रीभगवान्को प्राप्त कर लेता है। परंतु जिसने इस हाड़-मांसके पञ्जरमें आत्मबुद्धि करके उसकी अहंता और ममताके अधीन होकर अपने दृष्टिकोणको संकुचित कर लिया है, वह सर्वदा स्वार्थको सामने रखकर ही कोई काम करने या न करनेका निर्णय करता है। यह स्वार्थमयी संकुचित दृष्टि उसे अपने यथार्थ कर्तव्यसे च्युत कर देती है और वह भोगासक्त होकर न करनेयोग्य अनेक कार्य करने लगता है। यद्यपि विवेक-भगवान् उसे भी उसके यथार्थ कर्तव्याकर्तव्यका बोध करानेसे नहीं चूकते, तथापि स्वार्थान्ध होनेके कारण वह उनके इङ्गितकी उपेक्षा कर देता है। फलतः ऐसी स्थिति आ जाती है कि फिर उसे उस ओर देखनेकी दृष्टि ही नहीं रह जाती। एक डाकू भी जानता है कि डाका डालना अच्छी बात नहीं है, परंतु लोभ उसे उस न करनेयोग्य कार्यमें बलात् प्रेरित कर देता है। इसी प्रकार और भी जितने न करनेयोग्य कार्य हैं, वे स्वार्थवश विवेककी उपेक्षा करके ही किये जाते हैं। इसीसे शास्त्रोंका यह निर्णय है कि अधर्म भगवान्के पृष्ठभागसे उत्पन्न हुआ है अर्थात् उनकी विवेकरूप दृष्टिकी उपेक्षा करके आचरित होता है और धर्म उनके वक्षःस्थलसे अर्थात् उनकी दी हुई विवेक-दृष्टिका आदर करके आचरित होता है।

आज संसारमें अधिकतर लोग भोगको ही परम पुरुषार्थ समझते हैं और उसकी प्राप्तिके लिये स्वार्थसिद्धिके ही पीछे पड़े हुए हैं। इस दृष्टिका उनपर इतना प्रभाव है कि उनकी समझके अनुसार निर्दोष जीवन-यापन करना प्रायः असम्भव है। वे दोषको स्वाभाविक और निर्दोषताको कष्ट-साध्य मानने लगे हैं। जो लोग धर्म और समाजसेवाकी दुहाई देते हैं उनकी कथनी और करनीमें भी प्रायः विरोध रहता है। इससे सर्वसाधारणको अपने असदाचरणके लिये और भी प्रश्रय मिल जाता है। परंतु विचार-दृष्टिसे देखा जाय तो निर्दोषता या धर्म ही स्वाभाविक हैं, दोष या अधर्म तो सर्वथा अस्वाभाविक और प्रमादवश अपना ही किया हुआ अपराध है। यदि दोषी अपने विवेकका आदर करे तो बड़ी सुगमतासे वह भी निर्दोष होकर अपने परम प्राप्तव्य लक्ष्यको प्राप्त कर सकता है। विवेकका आदर न करना दुर्भाग्य है।

निर्दोषता स्वाभाविक है, यह बतलानेके लिये यहाँ कुछ विचार प्रस्तुत किये जाते हैं। विचार कीजिये।

१—निर्दोषता सहज-सिद्ध है और दोष क्रिया-साध्य है। अहिंसा, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदिके लिये आपको कोई क्रिया नहीं करनी पड़ती। किंतु हिंसा, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह आदि सभी दोष श्रम-साध्य हैं। इन्हें करनेकी अपेक्षा न करना सर्वदा ही सुगम है, इसलिये निर्दोषता दोषकी अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है।

२—निर्दोषतामें स्वतन्त्रता है और दोषमें परतन्त्रता। अहिंसाका निर्वाह करनेके लिये किसी अन्य जीवकी अपेक्षा नहीं होती, किंतु हिंसा तभी हो सकती है जब कोई हिंस्य जीव हो। अस्तेयके लिये किसी द्रव्यकी आवश्यकता नहीं होती, किंतु चोरी तभी हो सकती है जब कोई द्रव्य सामने हो। ब्रह्मचर्य-पालनके लिये किसी अन्य पुरुष या स्त्रीकी आवश्यकता नहीं है, पर व्यभिचार किसी अन्य पुरुष या स्त्रीके रहनेपर ही सम्भव है। अपरिग्रहके लिये किसी सामग्रीकी अपेक्षा नहीं है, किंतु परिग्रह बिना कोई सामग्री हुए हो ही नहीं सकता।

३—निर्दोषता सनातन है और दोष आगन्तुक। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह इत्यादि धर्मोंका पालन सर्वदा किया जा सकता है, परंतु असत्य, हिंसा, व्यभिचार, चोरी और परिग्रह सर्वदा नहीं किये जा सकते। इसी प्रकार अन्य निर्दोषता और दोषोंके विषयमें भी समझना चाहिये।

४—निर्दोषता व्यापक है और दोष संकुचित। आप सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्यादि धर्मोंका सबके प्रति आचरण कर सकते हैं, परंतु असत्य, हिंसा और व्यभिचार आदि दोषोंका आचरण सबके साथ नहीं हो सकता। अतः दोषकी अपेक्षा निर्दोषता अधिक व्यापक और स्वाभाविक है।

५—निर्दोषता सर्वप्रिय है और दोष किसीको भी प्रिय नहीं है। कोई भी व्यक्ति अपने प्रति किसी प्रकारका भी दोषपूर्ण आचरण किया जाना पसंद नहीं करता, सभी निर्दोष व्यवहारकी अपेक्षा रखते हैं। अतः किसीको भी दूसरोंके प्रति सदोष आचरण नहीं करना चाहिये।

इन सब विचारोंको सामने रखते हुए यह निश्चय होता है कि निर्दोषता ही स्वाभाविक है, दोष नहीं। जो स्वार्थान्ध हैं उन्हींको निर्दोषतामें कठिनताका दर्शन होता है। मनुष्यमें सुखकी दासता और दुःखका भय इतना बद्धमूल हो गया है कि उनके वशीभूत होकर उसे निर्दोष जीवन दुर्लभ-सा जान पड़ता है। किंतु सुखकी उपलब्धि और दुःखसे बचनेके लिये अकर्तव्यका आश्रय लेनेपर क्या वह इनके पंजेसे बच जाता है? सृष्टिमें आजतक तो ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं हुआ, जिसके

जीवनमें दुःख न आया हो और आया हुआ सुख चला न गया हो। जिस प्रकार कालके अङ्गभूत दिन और रात्रिके क्रमिक आवागमन होते रहते हैं, उसी प्रकार जीवके जीवनमें सुख-दुःख दोनों ही आते-जाते रहते हैं। आज-कल दूकानदारी-(व्यापार-)में अधिकतर लोग धनोपार्जनके लिये झूठ और कपटका आश्रय लेते हैं; फिर भी वे सभी धनाढ्य नहीं हो जाते। अतः चाहे आप कितना ही दोषका आश्रय लें, आप न तो सुखको सुरक्षित रख सकते हैं और न दुःखसे ही बच सकते हैं। अतः सुखासक्ति या दुःखके भयसे दोषका आश्रय लेना घोर कायरता है। साधकको इनकी ओर न देखकर सर्वदा अपने कर्तव्यका ही पालन करना चाहिये। ये सुख-दुःख तो आते-जाते ही रहेंगे, इनसे कोई बच नहीं सकता। जो पुरुष इनकी उपेक्षा करके अपने कर्तव्यका पालन करता है, वही इस लोकमें भी सम्मानित होता है और वही अपने जीवनका चरम लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। वास्तवमें सुख और दुःख दोनों ही साधनरूप हैं। जो सुख प्राप्त होनेपर उसे दूसरोंकी सेवामें लगाता है तथा दुःखसे भयभीत न होकर अपनी निष्ठामें निश्चल रहता है वही सच्चा साधक है। वही सर्व-साधारणके लिये आदर्श होता है और वही उत्तरोत्तर विकास करते हुए अपना चरम लक्ष्य प्राप्त करता है। संसारमें वे ही लोग तो आदर्श माने गये हैं, जिन्होंने कठिन-से-कठिन परिस्थितिमें भी अपने धर्मका निर्वाह किया है। जीवन एक यात्रा है। यात्रा चलनेसे ही पूरी होती है। हाँ, थक जानेपर शक्ति-संचयके लिये बीच-बीचमें थोड़ा विश्राम भी करना पड़ता है। जीवनमें दुःख चलनेके समान है और सुख विश्रामरूप है। यात्रा चलनेसे ही पूरी होती है, विश्रामसे नहीं। इसलिये बीच-बीचमें विश्राम लेते हुए जो निरन्तर निर्भय होकर अग्रसर होते रहते हैं वे ही एक दिन संसार-बन्धनसे छूटकर अपने जीवनका परम लक्ष्य प्राप्त करते हैं और उनका जीवन सर्वसाधारणका पथ-प्रदीप बनता है। अतः सुख-दुःखको पथके अनिवार्य स्थल समझकर उनमें बिना उलझे विवेकको साथ लेकर कर्त्तव्य-पथपर बढ़ते जाना ही साधकका वास्तविक कर्त्तव्य है।

धर्मका तत्त्व

अत्यन्त प्राचीन कालमें तपःपूत महर्षियोंने धर्मका साक्षात्कार किया। उन्होंने अपनेसे अवर महर्षियोंको धर्मका तत्त्व समझाया। धर्मके तात्त्विक रूपपर दर्शनोंने विचार किया और आचरणात्मक रूपकी व्याख्या धर्मसूत्रों तथा धर्मशास्त्रोंने की। महाभारतमें धर्म क्या है—इसपर विस्तारसे विवेचन किया गया। सबने समानरूपसे व्यवहारमें कर्त्तव्यको धर्म और अकर्त्तव्यको अधर्म कहा। पर कर्त्तव्य क्या है और अकर्त्तव्य क्या है—इसका निर्णय विवेकपर ही छोड़ दिया गया; विवेक उनका मान्य हुआ जो धर्मके तत्त्वको जाननेवाले थे; वे थे आर्यजन। अतएव 'वेदशास्त्रको जाननेवाले आर्यजन जिस किये जाते कर्मकी प्रशंसा करते हैं वह धर्म है और जिसे विनिन्दित करते हैं—वह अधर्म कहा गया—' 'यमार्या क्रियमाणं तु शंसन्त्यागमवेदिनः स धर्मो यं विगर्हन्ति तमधर्मं प्रचक्षते।' (विश्वामित्रवचन स्मृ० च० सं० का० पृ० १३, पंक्ति १३में उद्धृत।) मनुने जिस धर्मका विवेचन किया है, वह भी विवेकप्रधान विद्वानोंके हृदयसे अभ्यनुज्ञात ही कहा गया है—विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः। हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥

'राग-द्वेषसे रहित, सज्जन विद्वानोंके हृदयसे अनुमोदित एवं सेवित जो धर्म है उसे समझो।' इसीलिये यह भी कहा गया है कि 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्—' धर्मका तत्त्व विद्वानोंके विवेकमें निहित है। अतः ये जिस मार्गसे चलते हों उसे ही चलनेवाला मार्ग समझो—'महाजनो येन गतः स पन्थाः।'

भगवान् श्रीकृष्णका प्राकट्य

(नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा (सं० २०१९ वि० को) श्रीकृष्णजन्माष्टमीमहोत्सवपर दिये गये प्रवचनका सारांश)

मङ्गलमय भाद्रपदके कृष्णपक्षकी अष्टमी है, मध्य रात्रिका समय है, सब ओर घोर अन्धकारका साम्राज्य है, परंतु अकस्मात् समस्त प्रकृति उल्लाससे भरकर उत्सवमयी बन जाती है, सारी प्रकृति अपने परमाश्रय परमदेवका स्वागत करनेके लिये सज-धजकर समुत्सुक हो उठती है। सब दिशाएँ प्रसन्न हो गयीं, नदियोंका जल निर्मल हो गया, सरोवरोंमें रात्रिको ही कमल खिल उठे, वृक्षोंकी शाखाएँ पुष्प-फलोंसे लद गयीं, साधुओंका मन आनन्दोन्मत्त हो गया और निर्मल मन्द सुगन्ध मलय-समीर बहने लगा। देवताओंके बाजे स्वयं ही बज उठे, गन्धर्व-किंनर नाचने-गाने लगे और सब सिद्ध-चारणादि उनकी स्तुति करने लगे। क्रूर कंसका कारागार एक विलक्षण ज्योतिसे जगमगा उठा। महामहिम श्रीवसुदेव-जीको अनन्त सूर्य-चन्द्रमाओंके सदृश एक प्रचण्ड शीतल प्रकाश दिखायी दिया और उसमें दीख पड़ा शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मसे सुशोभित, चतुर्भुज, विशालनयन, वक्षःस्थलपर भृगुलता, श्रीवत्स और रत्नहार धारण किये विविध भूषणोंसे विभूषित, किरीट, मुकुट, कुण्डल-धारी, जिसके अङ्ग-अङ्गसे सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्यकी रसमयी त्रिवेणी बह रही है—ऐसा एक चमत्कारपूर्ण अद्भुत बालक।

वसुदेव-देवकीने स्तुति की। भगवान् श्रीकृष्णने उनको अभय-आश्वासन देकर अपने पूर्व-अवतारोंके सम्बन्धकी तथा वरदानकी बातका स्मरण कराया। तब देवकीने उनसे कहा—'मैं कंसके भयसे अधीर हो रही हूँ—**'कंसादहमधीरधीः'**। श्रीभगवान्ने कहा—'यदि ऐसी बात है तो मुझे तुरंत गोकुलमें पहुँचा दो और यशोदाके गर्भसे प्रकट हुई महामायाको ले आओ।'

इतना कहकर भगवान् तुरंत शिशुरूप हो गये। भगवान्के शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी ऐश्वर्यरूपको देखकर ही वसुदेव-देवकी भगवान्की लीलाशक्तिकी प्रेरणासे वात्सल्य-रसका आविर्भाव होनेपर डर गये और शिशुको हृदयसे लगाकर ले जानेका विचार करने लगे। पर जायँ कैसे? हाथोंमें हथकड़ी है, पैरोंमें बेड़ी है, सुदृढ लौहनिर्मित द्वार बंद है, बाहर शस्त्रधारी प्रहरी हैं। इससे वे अत्यन्त विषादग्रस्त होकर मन-ही-मन भगवान्के शरणापन्न हो गये। बस, तुरंत हाथोंकी हथकड़ी, पैरोंकी बेड़ी खुल गयी और विशाल लौह-कपाट भी अपने-आप खुल गये। यह सब भगवान्की अघटन-घटना पटीयसी मायाशक्तिसे नहीं, स्वतः हो गया; क्योंकि श्रीकृष्णको हृदयपर रखते ही सारे बन्धन अपने-आप कट जाते हैं और बन्धन-मुक्तिके लिये कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। इसके विपरीत जबतक श्रीकृष्णको हृदयपर नहीं रखा जाता, तबतक लाख प्रयास करनेपर भी बन्धन नहीं खुलता। मायाकी साँकलोंसे हाथ-पैर और गलेसे बँधा हुआ बहिर्मुख जीव कामना-वासनाके बंद दृढ़ लौह-कपाटोंके अंदर संसारके कारागारमें पड़ा रहता है। काम-क्रोधादि शत्रु सदा उसे कैदखानेपर पहरा लगाये रहते हैं। अतएव वह जीव किसी प्रकार भी कैदसे नहीं छूट सकता। पर जब वसुदेवजीकी भाँति वह श्रीकृष्णको छातीसे चिपकाकर व्रजकी राहपर चल देता है, तब माया-मोहकी सारी हथकड़ी-बेड़ी खुल जाती है, काम-क्रोधादि पहरेदार सो जाते हैं, कामना-वासनाके कपाट खुल जाते हैं—बिना ही प्रयास संसार-बन्धनसे उसे मुक्ति मिल जाती है। भगवान् वसुदेवजीकी गोदमें आकर जगत्को इसी बातका संकेत कर रहे हैं।

गोकुलके लिये प्रस्थान

वसुदेवजी कारागारसे निकलकर धीरे-धीरे बाहर सड़कपर आ गये। श्रीकृष्ण अप्राकृत परमानन्दघन-विग्रह हैं, अतः उन्हें हृदयपर रखकर चलनेवाले वसुदेवको किसी कष्टका तो अनुभव हुआ ही नहीं, वरं पद-पदपर वे आनन्द-सिन्धुमें अवगाहन करने लगे। बहिर्मुख जीव अभिमानका भार उठाकर संसार-पथपर चलता हुआ पग-पगपर दुःखभोग करता है। इस दुःखसे छूटना हो तो भाग्यवान् वसुदेवकी भाँति श्रीकृष्णको हृदयमें लेकर उनकी लीलाभूमि व्रजकी ओर चल देना चाहिये। फिर तो सारे बन्धन अपने-आप समाप्त हो जायँगे।

वसुदेवजी इधर-उधर चारों ओर भयभरी दृष्टि डालते हुए धीरे-धीरे चुपचाप व्रजकी ओर बढ़ रहे हैं। इसी समय देवराज इन्द्रके आदेशसे आकाशमें काले-काले बादल उमड़ आये, धीरे-धीरे गरजने लगे, बीच-बीचमें बिजली चमकने लगी और लगातार वर्षा होने लगी। इन्द्रने विचार किया कि मूसलाधार वर्षा होनेसे मथुरावासी कोई भी घरसे बाहर नहीं निकलेंगे, अतएव वसुदेवजीके जानेका किसीको पता नहीं लगेगा। बीच-बीचमें बिजलीका प्रकाश होते रहनेसे अँधेरेमें वसुदेवको आगे बढ़नेमें भी कोई कष्ट नहीं होगा। श्रीकृष्णको हृदयमें रखकर (हृदयस्थ ध्यान करता हुआ) अन्धकारमय मार्गमें चल पड़नेपर भी मनुष्य पथभ्रष्ट नहीं हो सकता। इसीलिये बिजली आज बार-बार हँस-हँसकर वसुदेवजीको पथ बतला रही है। वसुदेवजी चुपचाप परंतु शीघ्रतासे आगे बढ़े जा रहे हैं।

आकाशमें मेघोंके आते ही भगवान् अनन्तदेव श्रीकृष्णकी सेवाका सुअवसर जानकर वहाँ आ गये और अपने हजार फनोंको फैलाकर वसुदेवजीके सारे अङ्गोंपर छाया किये उनके पीछे-पीछे चलने लगे।

अनन्तदेव श्रीसंकर्षण श्रीकृष्णके ही दूसरे रूप हैं, परंतु अनादिसिद्ध दास्यभावके कारण वे विभिन्न रूपोंमें सदा श्रीकृष्णकी सेवा ही करते रहते हैं। श्रीकृष्णके स्वरूपानन्दकी अपेक्षा सेवानन्दका ही माधुर्य अधिक है, अतएव स्वयं श्रीकृष्णतक इस आनन्दका आस्वादन करनेके लोभसे दासाभिमानी अपने ही रूपसे अपनी सेवा करते हैं।

शय्यासनपरीधानपादुकाच्छत्रचामरैः ।
किं नाभूत्तस्य कृष्णस्य मूर्तिभेदैस्तु मूर्तिषु ॥
(ब्रह्माण्डपुराण)

—शास्त्रके इस वचनानुसार संकर्षण श्रीशेषजी शय्या, आसन, वस्त्र, पादुका, छत्र, चँवर आदि नाना मूर्तियाँ धारण करके अखिलरसामृतमूर्ति श्रीगोविन्दकी सेवा किया करते हैं।

शेषजी फनोंकी छाया किये चलते हैं, इस बातका वसुदेवजीको अभी पता भी नहीं है। वे अब श्रीयमुना-जीकेतटपर पहुँच गये। पर उन्होंने देखा—यमुनामें मानो भयानक तूफान आ गया है। बड़ी ऊँची-ऊँची पहाड़-जैसी तरङ्गें उठ रही हैं, सैकड़ों, हजारों बड़े-बड़े भँवर पड़ रहे हैं। वसुदेवजी यमुनाका यह भीषण रूप देखकर चकित और भयभीत हो रहे हैं। वे सोचने लगते हैं—रात बीत रही है, पार जाकर लौट न सका तो पता नहीं सबेरे कंस जागते ही क्या अनर्थ कर डालेगा। वे यमुनाके तीरपर असीम अनन्त भवसागरसे तुरंत पार कर देनेवाले श्रीहरिको गोदमें लिये हुए ही उस पार पहुँचनेकी चिन्ता कर रहे हैं! यह वात्सल्य-रसकी अनिर्वचनीय महिमा है। फिर भगवान्‌की शैशव-माधुरी भी एक विलक्षण चमत्कारी वस्तु है। मुक्ति-सिद्धिकी स्पृहा, ऐश्वर्यज्ञान, तत्त्वानुसंधान—कुछ भी क्यों न हो, दिव्य वात्सल्य-रस और शैशव-माधुरी-रसके सुधा-स्रोतमें सब तुरंत बह ही जाते हैं।

वसुदेवजी श्रीकृष्णको गोदमें लिये यमुनातटपर खड़े व्याकुल चित्तसे चिन्ता कर रहे हैं। उधर यमुनाजी श्रीकृष्णके चरण-स्पर्शकी कामनासे व्याकुल हैं और धैर्य छोड़कर अस्त-व्यस्त तरङ्गोंके द्वारा बढ़ी चली आ रही हैं। यमुनाका ताण्डव-नृत्य हो रहा है और वे उछल-उछलकर अपने परम प्रेमास्पद प्रभुके अरुण चरणोंका स्पर्श पानेके लिये बारंबार मस्तकको ऊँचा उठाये जा रही हैं। वसुदेवजीने व्याकुल होकर चारों ओर देखा—अगाध जल है और जलराशिके पहाड़-के-पहाड़ उछल रहे हैं। भगवान्‌ने पिता वसुदेवजीकी व्याकुलता देखकर धीरेसे सहसा यमुनाके मस्तकको अपने चरणकमलोंका स्पर्श-सुख प्रदान कर दिया। यमुना निहाल होकर झुकने लगीं, मानो दण्डवत् कर रही हैं। वसुदेवजीने चकित दृष्टिसे देखा—सामनेका जल घट रहा है। वे कुछ और आगे बढ़े, जल और भी कम मिला। श्रीकृष्ण-चरण-स्पर्शकी अपार तृष्णा लिये जो यमुना अपनी उत्ताल तरङ्ग-भङ्गिमाओंसे ताण्डव करती हुई बढ़ी चली जा रही थीं, श्रीकृष्ण-चरणका स्पर्श पाते ही उनकी बाढ़ तुरंत रुक गयी, तरङ्गें क्रमशः थम गयीं, बहावका वेग रुक गया, यमुना निश्चल—निस्तरङ्ग हो गयीं। यमुनाका वह भीषण तूफान वस्तुतः तूफान नहीं था, वह था श्रीकृष्ण-चरणस्पर्शकी उत्कट लालसासे उठनेवाला सहज प्रेमावेश। अब वसुदेवजी अनायास ही पार हो गये।

पर किस रास्तेसे जाकर वे तुरंत नन्दघरमें पहुँचें? यमुनाके निर्जन तटपर इस निस्तब्ध निशामें उन्हें कौन मार्ग बताये? वसुदेवजी श्रीकृष्णको गोदमें लिये किसी तरह धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगे। उनके पीछेसे यमुनाजी मन-ही-मन मृदु-मृदु कलकल निनादके द्वारा कहने लगीं—'जाओ वसुदेव! याद रक्खो—श्रीकृष्णका भक्त कभी पथ-भ्रष्ट नहीं होता, मार्ग नहीं भूलता, वह जिस ओर चलने लगता है, उसी ओर उसके लिये मार्ग बन जाता है। वसुदेव! तुम्हें मार्ग खोजना नहीं पड़ेगा, मार्ग स्वयं ही तुम्हें खोज लेगा। वह पथ ही तुम्हारा पथ-प्रदर्शक बनकर तुम्हें नन्दालयमें ले जायगा; तुमने श्रीकृष्णको गोदमें जो ले रखा है। फिर चिन्ता क्यों कर रहे हो?'

श्रीवसुदेवजी सीधे नन्दमहलमें पहुँच गये। देखा, सभी सो रहे हैं। वे सहज ही सूतिकागृहमें जा पहुँचे और शिशु श्रीकृष्णको यशोदाके पास सुलाकर यशोदाकी सद्यःप्रसूता कन्याको लेकर मथुराके कारागारमें लौट आये। उनके लौटते ही पूर्ववत् सब कुछ ज्यों-का-त्यों हो गया। यशोदाको यह भी पता नहीं लगा कि उनके पुत्रका जन्म हुआ या कन्याका। शिशुरूप श्रीकृष्णके लीलासे रोनेपर ही यशोदा जागीं, तब उन्हें पता लगा कि उनके नील कमल-दलके सदृश श्यामवर्ण पुत्र उत्पन्न हुआ है—

ददर्श च प्रबुद्धा सा यशोदा जातमात्मजम्।
नीलोत्पलदलश्यामं ततोऽत्यर्थं मुदं ययौ॥

(विष्णुपुराण)

तदनन्तर वे मूर्तिमान् आनन्द-ज्योति श्रीगोविन्द माता यशोदाकी गोदमें शोभा पाने लगे। मानो चिदानन्द-सरोवरमें ऐसे एक नीलकमलका विकास हुआ, जिसकी सुगन्ध अबतक भ्रमरोंको कभी सूँघनेको नहीं मिली थी, जिसकी सुगन्धको पवन कभी भी हरण करके नहीं ले जा पाया था, जिसको कभी कोई तरङ्ग-कण स्पर्श नहीं कर पाया था और जिसको इससे पहले किसीने भी नहीं देखा था। ऐसे अनाघ्रात, अनपहृत, अनुपहत और अदृष्ट नीलकमल-सदृश श्रीकृष्ण हैं अर्थात् इससे पूर्वके भ्रमररूप भक्तोंने ऐश्वर्यमय नारायण आदि रूपोंका आस्वादन प्राप्त किया था, इनका नहीं; अतएव ये अनाघ्रात हैं। इससे पूर्वके पवनरूप महाकवियोंने श्रीनारायणादि ऐश्वर्यरूपोंका गुणगान किया था, इनका नहीं; अतएव ये अनपहृत हैं। प्राकृत कमल

जैसे जलमें उत्पन्न होता है, वैसे वह कमल जलमें यानी प्रपञ्च-जगत्‌में नहीं अवतीर्ण हुआ है। जलमें उत्पन्न कमलको तरङ्गोंके थपेड़े लगते हैं, पर तरङ्गरूप प्रपञ्चान्तर्गत गुण इनको कभी छूतक नहीं गये हैं, इससे ये अनुपहत हैं और ऐश्वर्यमय या ऐश्वर्य-माधुर्य-मिश्रित रूप पहले देखे गये हैं, पर यशोदोत्सङ्गविहारी इन नीलश्यामको अबतक किसीने नहीं देखा है, इसलिये ये अदृष्ट हैं।

इसका दूसरा भाव यह भी परम सत्य है कि श्रीभगवान्‌का यह मधुरतम स्वरूप ऐसा विलक्षण है कि इसमें क्षण-क्षण नये-नये सौन्दर्य-माधुर्यादि रसोंका, प्रतिक्षण नये-नये लीलाभावोंका विकास-उल्लास होता रहता है। इसलिये प्रेमी भक्त प्रतिक्षण ही इनके प्रत्येक भावको अभूतपूर्व ही अनुभव करते हैं। इनका प्रत्येक भाव नित्य नवीन, सदा अनास्वादित ही दीखता है—

अनाघ्रातं भृङ्गैरनपहृतसौगन्ध्यमनिलै-
रनुत्पन्नं नीरेष्वनुपहतमूर्मीकणभरैः।
अदृष्टं केनापि क्वचन च चिदानन्दसरसो
यशोदायाः क्रोडे कुवलयमिवौजस्तदभवत्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

श्रीकृष्णावतारके प्रयोजन

परात्पर ब्रह्मके इस दिव्य अवतारके प्रधान हेतु बतलाते हुए कहा गया है—

आत्मारामान् मधुरचरितैर्भक्तियोगे विधास्यन्
नानालीलारसरचनयाऽऽनन्दयिष्यन् स्वभक्तान्।
दैत्यानीकैर्भुवमतिभरां वीतभारां करिष्यन्
मूर्तानन्दो व्रजपतिगृहे जातवत् प्रादुरासीत्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

श्रीभगवान्‌के इस प्रकारके अवतार-ग्रहणके तीन प्रधान कारण हैं—(१) अपने मधुर लीलाचरितोंके द्वारा आत्माराम मुनियोंको प्रेमभक्तियोगमें लगाना, (२) विविध लीलारसोंकी रचनाके द्वारा अपने प्रेमी भक्तोंको आनन्दित करना उनके विशुद्ध प्रेमरसास्वादनके द्वारा सुखी होकर उन्हें प्रेमरसास्वादन कराकर सुखी करना और (३) दुर्दान्त दैत्योंके भीषण भारसे अत्यन्त दबी हुई पृथ्वीका भार उतारना। इन्हीं तीन मुख्य प्रयोजनोंसे आनन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण व्रजनरेश नन्दबाबाके घरमें जन्म लेनेकी भाँति प्रकट हुए।

भगवान् श्रीकृष्णने अपनी लीलामें इन तीनों ही प्रयोजनोंको भलीभाँति सम्पन्न किया। भगवान्‌ने मधुर व्रजलीलामें वात्सल्य-सख्य-मधुर आदि विभिन्न रसवाले प्रेमीजनोंको दिव्य प्रेम-रस-सुधाका आस्वादन कराया और किया। बीच-बीचमें ऐश्वर्यभावका ग्रहण एवं दैत्योंके प्राण हरण कर उन्हें मुक्ति प्रदान की। मथुरा और द्वारकाकी लीलामें माधुर्य-रसकी अपेक्षा ऐश्वर्यका तथा प्रेमकी अपेक्षा निष्काम कर्म और ज्ञानका परम विशुद्ध अमृत अधिक वितरण किया। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, ज्ञानी अमलात्मा परमहंस महात्माओंको आकर्षित करके अपनी विशुद्ध भक्तिमें नियुक्त किया।

जगन्मङ्गल-हेतु कृष्णावतार

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्। जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥

(श्रीशुकदेवजी परीक्षितसे कहते हैं—)'इन श्रीकृष्णको ही तुम सब आत्माओंका आत्मा समझो। संसारके कल्याणके लिये ही योगमायाका आश्रय लेकर ये यहाँ (इस पृथ्वीपर) देहधारीके समान जान पड़ते हैं।'

(श्रीमद्भा० १०।१४।५५.)

गुरुतत्त्व—आगमिक दृष्टि

(लेखक— आचार्य पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय)

व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रोंमें गुरुकी महिमा अनन्त है। ईश्वरके बाद उसीकी मान्यता है। साधकका चक्षु अज्ञान-तिमिरसे बन्द है। ज्ञानरूपी अञ्जनकी शलाकासे गुरु उस दोषको हटाकर परमात्म-साक्षात्कार कराता है। इससे साधकके अन्तर्नेत्र खुल जाते हैं और वह इन्द्रियातीत विषयोंको भी जाननेमें सफल हो जाता है। इसलिये गुरुकी महिमाके सम्बन्धमें पुराणोंमें कहा गया है—

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

(नारदपुराण १। ६५। ५६)

शास्त्रकी दृष्टिमें गुरु मानव होकर भी देवाधिदेवका स्वरूप प्रस्तुत करता है। गुरु ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर हैं। किमधिकम्, वह साक्षात् परब्रह्म परमात्माका ही रूप है। अतएव वह सभी प्रकार वन्दनीय है। तन्त्रराजकी वाणी है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

(देवीभाग० ११। १ ४१ गर्गसंहिता ४। १। १४)

आगमोंकी दृष्टिमें शिव ही गुरुके पूर्ण आदर्श हैं। 'मानसमें भगवती पार्वतीकी उक्ति है'—'**तुम त्रिभुवनगुरु बेद बखाना।**' शिव गुरु आदि, नित्य एवं विश्वके परमगुरु हैं। वे सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। उनमें विराजमान नित्य शक्ति भी सच्चिदानन्दस्वरूपा है। शिव निष्क्रिय द्रष्टा और कर्ता हैं। शक्ति उनके साथ पूर्णरूपेण अभिन्न होनेपर भी दृष्टिस्वरूप और कारणरूप है। सृष्टिके पूर्व शिव और शक्तिमें किसी प्रकारका अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता, परंतु सृष्टिके पश्चात् यह पार्थक्य दृष्ट होता है। द्वैतदृष्टिसे विचार करनेपर जीव अनादिकालसे अणुके रूपमें विद्यमान रहता है। आरम्भसे ही जीवके ऊपर एक आवरण चढ़ा रहता है, जिससे उसका विभुत्व (व्यापकत्व) सदा आच्छादित रहता है। तत्त्वतः तो शिव और जीवमें सर्वथा अभेद है, परंतु मलावरणके कारण दोनोंमें भेद प्रतीत होता है। यही आवरण जीवत्व अथवा दूसरे शब्दमें पशुत्व कहलाता है। यह अनादिकालसे जीवके साथ लगा है, जिससे जीव अपना विभुत्व भूलकर अपनेको 'अणु' (अत्यन्त छोटा व्याप्य) समझने लगता है। अतः यह आगमोंमें 'आणवमल'की संज्ञासे प्रसिद्ध है। अभिनवगुप्त इसे 'स्वरूपप्रच्छादन'की संज्ञा देते हैं; उनका वचन है—

देवः स्वतन्त्रश्चिद्रूपः प्रकाशात्मा स्वभावतः।
रूपप्रच्छादनक्रीडायोगादणुरनैककः ॥

(तन्त्रालोक, भाग ८। १३। १०३)

'शिव तत्त्व वस्तुतः स्वतन्त्र, चिद्रूप, स्वभावसे ही प्रकाशात्मा विभु और एक है, परंतु अपने स्वरूपके प्रच्छादनकी क्रियाके योगसे वे अणु हो जाते हैं और अनेक रूप धारण करते हैं। यदि यह आवरण न रहता तो जीव भी अपनेको शिवरूपमें ही जानता, पशुरूपमें नहीं।' इसी आवरणके समान कहीं-कहीं एक दूसरा ही आवरण इसके ऊपर दृष्टिगोचर होता है जिसे 'कर्म' कहते हैं। इस आवरणके ऊपर भी एक दूसरे मलकी सत्ता दृष्टिगोचर होती है, जिसे मायीय मल कहते हैं। इस मायीय मलके द्वारा कोई पुरुष किन्हीं कार्योंको शुभ समझकर उनके सम्पादनकी ओर अग्रसर होता है और किन्हींको अशुभ समझकर उनसे हटता है; वही 'शुभाशुभ वासना'का मर्ण मलके नामसे अभिहित होती है, जिसका दूसरा नाम बन्धन है। इसी बन्धनसे जीवको उन्मुक्त करनेवाला व्यक्ति 'गुरु' कहलाता है।

*

अभिनवगुप्तने 'मोक्ष'के स्वरूपके विषयमें कहा है—
'मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः।'

स्वरूप-प्रथनको ही तन्त्रशास्त्र मोक्ष कहता है, 'स्वस्वरूपप्रथन'का अर्थ है—शिवके यथार्थरूपकी प्रतीति। शिवकी सर्वतोमहनीया शक्ति है—स्वातन्त्र्य-शक्ति। इसी स्वातन्त्र्यशक्तिसे सम्पन्न शिवरूपकी प्रतीति ही वस्तुतः स्वरूप-प्रथन है। इस दशामें साधक अपनेको शरीर, मन, बुद्धि, प्राणसे उत्तीर्ण (पार) कर शुद्ध प्रकाश विमर्शरूप संवित्‌का अनुभव करता है। यही मोक्ष है। 'परमार्थसार'में मोक्षका स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट है—

मोक्षस्य नैव किंचिद् धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः॥
(परमार्थसार, ६०वीं कारिका)

मोक्षका न कोई धाम है और न कहीं अन्यत्र गमन होता है; अज्ञानकी ग्रन्थिको भेदन करनेसे जो स्वशक्तिकी अभिव्यक्ति होती है, वही मोक्ष है। फलतः यथार्थ गुरु-कर्त्तव्य साधकके हृदयमें विद्यमान अज्ञानकी ग्रन्थिको खोलकर उसके शिवत्वको पूर्ण अभिव्यक्त कराना है अथवा परामुक्तिसे पूर्णत्व प्राप्त कराना है।

आचार्योंका कथन है कि आगमसम्मत परामुक्ति ही पूर्ण है। आगमके मतमें न तो सांख्यका कैवल्य पूर्णत्व है और न वेदान्तका निर्वाण ही। द्वैतागम एवं अद्वैतागम दोनोंमें इसका समर्थन मिलता है। तन्त्रालोकके टीकाकार जयरथ वेदान्तकी मुक्तिको संवेद्य प्रलय-कालकी अवस्थाके सदृश मानते हैं। वे इस मुक्तिको 'विज्ञानकैवल्य'के समान नहीं मानते। इससे अनुमान होता है कि वेदान्तकी मुक्तिमें आणवमल पूर्णरूपसे वर्तमान रहता है; वह ध्वंसोन्मुख नहीं होता! परंतु 'विज्ञानकैवल्य'में आणवमल ध्वंसोन्मुख तो होता ही है, कर्म न होनेके कारण 'विज्ञानकेवली'की पुनरावृत्ति भी नहीं होती। आणवमलके ध्वंसोन्मुख होनेके कारण उससे कर्मोंकी उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। वेदान्तानुसार मोक्षमें पुनरावृत्ति नहीं होती। **'न च पुनरावर्तते'** (छा० उ० ८। १५।१) **'अनावृत्तिः शब्दात्।'** (४।४।२२)। द्वैतवादी वैष्णवोंके अनुसार मुक्ति प्रलयकालकी तरहकी है। उस स्थानमें दीर्घकालतक भोग होता है। फिर नयी सृष्टिमें जन्म होता है। न्यायादिका अपवर्ग आत्माके सर्वविशेषोच्छेद होनेके कारण अपवेद्य प्रलयकालके सदृश है। फलतः आगमसम्मत परामुक्तिमें ही पूर्णत्व है।[1]

लोकमें नेत्र-सम्पन्न व्यक्ति ही गन्तव्यमार्गको स्वयं देख सकता और दूसरोंको भी मार्ग-दर्शन करा सकता है। इस प्रकार अध्यात्मजगत्‌में भी गुरुको ज्ञाननेत्र-सम्पन्न होनेकी नितान्त आवश्यकता रहती है। श्रुति स्पष्ट कहती है—**'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभि-गच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।'** (मुण्डकोपनि० १। २। १२) अतः गुरुको परोक्ष एवं अपरोक्ष उभयविध ज्ञान-सम्पत्तिसे पूर्ण रहना चाहिये। ऐसा ही गुरु लौकिक एवं शास्त्रीय शङ्काओंको दूरकर अज्ञान-तिमिरका भेदन कर सकता है। इस ज्ञानशक्तिके साथ ही जगद्गुरुमें इच्छा एवं क्रियाशक्तिका रहना भी आवश्यक होता है। दूसरेके दुःख दूर करनेकी जो इच्छा है—इसे ही कृपा या करुणा कहते हैं। ज्ञानी होकर भी जो व्यक्ति कृपा-रहित है, वह गुरुत्वसे सम्पन्न नहीं माना जा सकता। कृपा ही गुरुत्वकी प्रवर्तिका होती है, परंतु इच्छाहीनमें करुणा कहाँ? इसी प्रकार ज्ञानीमें केवल इच्छासे ही कार्य नहीं होता, यदि उसमें इस इच्छाको सफल बनानेकी सामर्थ्य न हो। इच्छा भी अप्रतिहत होनी चाहिये। तभी वह क्रियाके रूपमें स्थूलरूप धारणकर सफल होती है।

१—द्रष्टव्य—स्व० म० म० गोपीनाथ कविराजकी 'भारतीयसंस्कृति और साधना' भाग १, पृष्ठ २५४ (विहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना १९६३)

ज्ञानी होनेमात्रसे ही गुरुकी योग्यता नहीं होती—यदि उसके हृदयमें दुःखी व्यक्तिके दुःखोंको दूर करनेकी करुणाका उदय न हो। बौद्ध-दर्शनानुसार बोधिसत्त्वमें भी ज्ञानपरमितताका सद्भाव रहता है; परंतु पूर्ण बुद्धत्व-प्राप्तिके लिये उसमें करुणाका उद्रेक आवश्यक है। 'करुणा'की प्रेरिका शक्ति ही उसे उपदेश देनेके लिये अग्रसर करती है, अन्यथा समस्त ज्ञानको धारण करनेवाला व्यक्ति भी मात्र धरोहरकी तरह अपनेमें ही ज्ञानको सँजोये रहता है। 'करुणा' के उदय लेनेपर ही बोधिसत्त्व बुद्धरूपको प्राप्तकर उपदेशादि—जगत्के कल्याणके साधनमें तत्पर होता है। निष्कर्ष यह कि यथार्थ गुरुमें प्रत्यक्ष ज्ञानके साथ इच्छा एवं क्रियाका योग रहना चाहिये। ऐसे गुणोंसे—ज्ञान, इच्छा, क्रियादिसे युक्त ही शास्त्रोंमें 'सद्गुरु' या आप्तपुरुष कहे गये हैं। ऐसे व्यक्तिको 'सांसिद्धिक गुरु' कहते हैं। उनमें स्वतः ही सत्ताका उदय होता है। उनके सारे बन्धन ढीले हो जाते हैं और उनमें पूर्ण शिवत्वका आविर्भाव हो जाता है। ऐसे पुरुषोंके लिये स्वयं कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। वे अपने-आपमें कृतकृत्य हो जाते हैं। दूसरेपर अनुग्रह करना ही उनका एकमात्र प्रयोजन रहता है। ऐसे व्यक्तिके स्वरूपका निरूपण शास्त्र इस प्रकार करता है—

स्वं कर्तव्यं किमपि कलयन् लोक एक प्रयत्नात्
नो पारक्यं प्रतिघटयते कांचनस्वात्मवृत्तिम्।
यस्तु ध्वस्ताखिलभवमलो भैरवीभावपूर्णः
कृत्यं तस्य स्फुटतरमिदं लोककर्तव्यमात्रम्॥

'योगसूत्र'के भाष्यकार व्यासका ईश्वरके विषयमें कथन इस सांसिद्धिक गुरुके विषयमें भी चरितार्थ होता है—**'तस्य आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रह एव प्रयोजनम्'**—आत्मानुग्रहके अभाव होनेपर भी भूतानुग्रह—प्राणियोंपर अनुग्रह करना ही उसका प्रयोजन होता है।

यह अनुग्रहशक्ति भी गुरुत्वका एक वैलक्षण्य है। अनुग्रहशक्तिके स्वरूप जाननेके लिये उसके विलोम 'निग्रहशक्ति'के रूपको जानना नितान्त आवश्यक है। आगमशास्त्रोंमें परमेश्वरके पाँच कर्म प्रसिद्ध हैं। ये हैं—'सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह एवं निग्रह।' निग्रहका अर्थ तिरोधान है। सृष्टि होनेसे पहले निग्रह या तिरोधानकी प्रक्रिया किसी-न-किसी रूपमें अवश्यमेव होती है। निग्रह या तिरोधान शब्द आत्मस्वरूपके आच्छादनके लिये आगमशास्त्रोंमें व्यवहृत होता है। अद्वैतमतमें एक अद्वितीय परमेश्वरके अतिरिक्त किसीकी सत्ता नहीं मानी जाती। इस प्रकार शिवभावसे जो विभु आवरणके कारण अणुके रूपमें संकुचित हो गया है, उसको अनुग्रहशक्तिके द्वारा शिवत्वकी प्राप्ति करा देना ही गुरुका उदात्त दायित्व है। अपनी अनुग्रह-शक्तिसे जीवको बन्धनमुक्त कराकर 'स्वरूप' तथा मुक्तिसे सम्पन्न करनेवाला व्यक्ति ही गुरुकी गौरवशाली महिमासे मण्डित होनेयोग्य होता है।

दक्षिणामूर्तिका रहस्य

भक्तोंको अद्वैततत्त्वका उपदेश देनेके लिये भगवान् शिवद्वारा परिगृहीत गुरुरूपको 'दक्षिणामूर्ति' कहा गया है। दक्षिणामूर्तिके स्वरूप तथा उपासनाके प्रतिपादक 'दक्षिणामूर्तिसंहिता' आदि कई ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त इस नामकी एक स्वतन्त्र उपनिषद् भी है। इसमें 'दक्षिणामूर्ति' पदकी व्याख्या इस प्रकार है—

शेमुषी दक्षिणा प्रोक्ता सा यस्याभीक्षणे मुखम्।
दाक्षिण्याभिमुखः प्रोक्तः शिवोऽसौ ब्रह्मवादिभिः॥

(दक्षिणा० सं० १९)

यहाँ 'बुद्धि'को ही 'दक्षिणा' कहा गया है। यह बुद्धि जिसके साक्षात्कार करनेमें प्रमुख साधन हो, उस शिवको ब्रह्मवादिगण 'दक्षिणाभिमुख' अर्थात् दक्षिणामूर्तिके नामसे पुकारते हैं। भारतमें इन दक्षिणा-

मूर्तिकी बड़ी सुन्दर तथा आकर्षक पाषाण-प्रतिमाएँ मिलती हैं[1]। उनके रूपके ध्यानका वर्णन-परक यह पद्य नितान्त प्रख्यात है—

स्फटिकरजतवर्णं मौक्तिकीमक्षमाला-
ममृतकलशविद्याज्ञानमुद्राः कराग्रैः।
दधतमुरगकक्षं चन्द्रचूडं त्रिनेत्रं
विधृतविविधभूषं दक्षिणामूर्तिमीडे॥

(दक्षिणामूर्ति उप० ३)

'दक्षिणामूर्तिका वर्ण स्फटिक तथा रजतके समान शुभ्र है। वे हाथोंमें मोतीयुक्त रुद्राक्षमाला, अमृत-कलश, विद्यामुद्रा एवं ज्ञानमुद्रा धारण करनेवाले हैं। उनकी कटिमें साँपका वेष्टन है तथा जटाजूटमें चन्द्रमा विराजमान हैं। वे अन्य अङ्गोंमें भी विविधभूषणोंको धारण किये हुए हैं। मैं ऐसे दक्षिणामूर्तिकी स्तुति करता हूँ।'

आद्यशंकराचार्यने 'दक्षिणामूर्ति'की प्रशंसामें 'दक्षिणामूर्ति-वर्णमाला-स्तोत्र' एवं 'अष्टक'—इन दो स्तोत्रोंकी रचना की है। इनमें गुरुमूर्ति शिवका रूपप्रतिपादक स्तोत्र अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसपर अनेक अद्वैताचार्योंकी टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। एक पद्य इस प्रकार है—

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात् कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥[2]

(दक्षिणामूर्तिस्तोत्र १)

'निद्राकी अवस्थामें (स्वप्नमें) दीखनेवाले पदार्थोंके समान यह समग्र विश्व आत्मामें ही प्रतिभासित होता है, जिस प्रकार दर्पणमें दीखनेवाली नगरी प्रतिबिम्बरूपसे दृष्टिगोचर होती है। आत्म-साक्षात्काररूप जाग्रत्-अवस्थामें '**एकमेवाद्वितीयम्**' ब्रह्मका जो साक्षात्कार करता है, ऐसे गुरुमूर्तिधारी दक्षिणामूर्तिको नमस्कार है।' इस पद्यमें निद्रा तथा जागरण दोनों दशाओंकी तुलनाके द्वारा अद्वैततत्त्वका निरूपण किया गया है।

इन दक्षिणामूर्तिके चार भेद हैं—वीणाधर, योग, ज्ञान और व्याख्यानमूर्ति। इन चारोंके विभिन्न रूप तथा आकृतियाँ प्रस्तरोंमें अङ्कित मिलती हैं। (१) वीणाधर-मूर्ति चार भुजावाली होती है; वह खड़ी रहती है तथा भक्तोंको वीणावादन सिखलाती है। (२) योगमूर्ति—ध्यानस्थ मुद्रामें बैठी रहती है और भक्तोंको अपने दर्शनसे योगकी शिक्षा देती है। (३) ज्ञानमूर्ति ज्ञानकी शिक्षा देनेके लिये होती है। (४) व्याख्यानमूर्ति शास्त्रोंके उपदेशके निमित्त धारण की जाती है। अन्तिम दोनों मूर्तियाँ वीरासन धारणकर ज्ञान तथा व्याख्यानकी मुद्राओंका प्रदर्शन करती हुई भक्तोंको तत्तत् विषयोंका उपदेश देती हैं। उपरिनिर्दिष्ट मूर्तियोंकी उपलब्धि दक्षिणभारतमें विशेषरूपसे होती है। जगन्नाथपुरीमें वीणाधर दक्षिणामूर्ति प्राप्त है। विष्णु-काञ्चीमें योगदक्षिणामूर्ति है। योगपट्टधारण करनेके कारण इस मूर्तिको पहचाननेमें कोई संदेह नहीं रहता। इसके दाहिने हाथमें तर्कमुद्रा प्रदर्शित हैं। मूर्तिके चारों ओर अनेक ऋषिलोग बैठकर योगविद्या सीख रहे हैं—यह दिखाया गया है।

'दक्षिणामूर्त्युपनिषद्' अष्टोत्तरशत उपनिषदोंके समूहमें ५१वीं संख्यापर आबद्ध है। इसमें शिवतत्त्वके उपदेष्टा गुरुके अद्वैतसिद्धान्ती उपदेशोंका वर्णन किया गया है। इस देवमूर्तिकी आराधनाके निमित्त आगमोंमें अनेक मन्त्र भी दिये गये हैं। इनमें '**ॐ ब्रूं नमः—दक्षिणापदमूर्तये ज्ञानं देहि स्वाहा**'—यह १८ अक्षरोंका मन्त्र सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है।

काञ्चीमें विराजमान उपरिनिर्दिष्ट दक्षिणामूर्तिका निर्माण 'दक्षिणामूर्त्युपनिषद्'के निम्नलिखित पद्यके आधारपर सम्पन्न किया गया प्रतीत होता है—

१—दक्षिणामूर्तिके एक प्राचीन अङ्कनके लिये द्रष्टव्य—भारतीय संस्कृतिकोश (मराठी) चतुर्थखण्ड, पृष्ठ३३३ (प्रकाशक—पण्डित महादेव शास्त्री जोशी, शनिवार पेठ, पूर्णे, १९६७) २—प्रत्येक श्लोकका अन्तिम चरण यही है।

भस्म व्यापाण्डुराङ्गः शशिशकलधरो ज्ञानमुद्राक्षमाला-
वीणापुस्तैर्विराजत्करकमलधरो योगपट्टाभिरामः ।
व्याख्यापीठे निषण्णो मुनिवरनिकरैः सेव्यमानः प्रसन्नः
सव्यालः कृत्तिवासाः सततमवतु नो दक्षिणामूर्तिरीशः
(द० मू० उ० ९)

दक्षिणामूर्ति रूपवाले भगवान् शंकरका यह व्याख्यान शब्दोंके माध्यमसे नहीं होता, जैसा साधारणतः जगत्में होता है, प्रत्युत यह मौन व्याख्यान है। व्याख्यापीठपर विराजमान गुरुको शब्दोंके द्वारा अद्वैत-तत्त्वके उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं होती, प्रत्युत उनके दर्शनमात्रसे ही शिष्योंके हृदयस्थ संदेह स्वतः छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इसी तत्त्वको दृष्टिमें रखकर सच्चे गुरुके विषयमें यह प्राचीन सूक्ति है—

'गुरोस्तु मौनव्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः।'

शारीरकभाष्यमें शंकराचार्यने वाष्कलि-बाध्वऋषिके प्रसङ्गमें इस तथ्यकी अभिव्यक्ति की गयी है[१]। वाष्कलि बाध्वऋषि वाष्कलि गुरुके पास ब्रह्मोपदेशके लिये गये, तब गुरु बाध्वने अपना उत्तर शब्दोंके द्वारा न देकर केवल मौनका आश्रय लिया। बाध्वने तीन बार प्रश्न किया, तब गुरु-(वाष्कलि-) ने कहा कि मैं तो आपके प्रश्नका उत्तर प्रति बार दे रहा हूँ—**'उपशान्तोऽयमात्मा'**—आत्मा शान्तस्वरूप है, इसके उपदेशके लिये शब्दका माध्यम **अकिंचित्कर** है। ठीक ही है—

यन्मौनव्याख्यया मौनिपटलं क्षणमात्रतः ।
महामौनपदं याति स हि मे परमा गतिः ॥

अध्यात्मवाद विश्वके दुःख-दर्दकी एकमात्र ओषधि

(लेखक—आचार्य श्रीमुन्शीरामजी शर्मा 'सोम', पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

देश कुछ वर्षोंसे पतनकी चरम सीमामें प्रवेश कर गया है। इस गर्तसे यह यदि बाहर न निकला तो भविष्य निश्चित रूपसे धूमिल हो जायगा। यह पतन चरित्रका है। एक सज्जन रूस गये। मास्को विश्वविद्यालयके विशाल प्राङ्गणमें उनके भाषण हुए। एक रूसी महानुभाव उठे और कहने लगे—हमें ऐसे व्याख्यानोंकी ही आवश्यकता है। विषय था 'रामचरितमानस और कर्तव्य-परायणता'। प्रश्न उठा कि धर्म क्या है? भारतीय विद्वान्ने कहा—'धर्म हमारे यहाँ कर्तव्यका पालन करना है और इस दृष्टिसे आप परम धार्मिक हैं।'

भारतवर्षका नागरिक धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, सत्य, अक्रोध आदिको धर्मका नाम देता रहा है। आप किसी देवतामें विश्वास रखें, अपने किसी महापुरुषको पूज्य स्थान दें, इससे कोई अन्तर न पड़ेगा। आवश्यकता है उपर्युक्त सामाजिक तथा वैयक्तिक सद्गुणोंको अपने भीतर धारण करने तथा तदनुकूल आचरण करनेकी। यदि आपका विचार, उच्चार और आचार एक हैं, बाहर तथा भीतर समानता है, तो आप धार्मिक हैं, सत्पुरुष हैं, पुण्यव्रती हैं।

भारतीय अध्यात्मवाद बाहरसे लेकर अन्तस्तलतकको दिव्य बनानेकी प्रक्रिया है, साधना है। जिसे शिव, शुभ, भद्र या अच्छा कहा जाता है, वही हमारे अध्यात्मका केन्द्रबिन्दु है। दिव्यताका अर्थ है—शुभ, सुन्दर, सत्। शरीरको स्नानद्वारा शुद्ध किया जाता है, व्यायामद्वारा अङ्ग-अङ्गको सुन्दर बनानेका विधान है, सात्त्विक आहार-द्वारा उसे पुष्ट किया जाता है और शरीर इस विधान-द्वारा शुभ्र बनता है, दिव्य रूप धारण करता है। इसी प्रकार मन चिन्तन एवं मननद्वारा, बुद्धि प्रकाशके ध्यान एवं धारणाद्वारा और अहंकार नम्रता एवं सहिष्णुताद्वारा, पवित्र बनता है। यदि समाजका एक-एक घटक इस दिशामें, पवित्रताके पथमें प्रयाण करने लगे तो धर्मका वातावरण बन जायगा और मानव सुख-शान्तिके

१—वाष्कलिना च बाध्वः पृष्टः सन्नवचनेनैव ब्रह्म प्रोवाचेति श्रूयते—स होवाच—अधीहि भो इति। स तूष्णीं बभूव। तं ह द्वितीये वा तृतीये वा वचन उवाच—ब्रूमः खलु त्वं तु न विजानासि। उपशान्तोऽयमात्मा।'
(वे० सू० शांकरभाष्य ३। २। १७)

अनुभवके साथ भौतिक उन्नति तथा आध्यात्मिक उन्नयनमें आगे बढ़ जायगा, ऊँचा उठ जायगा ।

धर्मका अर्थ है—धारण करनेवाला । जो गुण हमें तथा समाजको धारण करते हैं, जिनसे हम बाहर बढ़ते हैं तथा भीतर ऊँचे उठते चले जाते हैं, वे ही धर्मकी संज्ञा प्राप्त करते हैं । धर्म अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनोंका सम्पादक है, दोनों ओर सिद्धि देनेवाला है । जब हम भारतको अध्यात्म-प्रधान कहते हैं, तब हमारा लक्ष्य इसी दिशाकी ओर होता है । जो अध्यात्म-प्रधान है, मन और बुद्धिसे निर्मल है, जिसकी अन्तरात्मा पावन है, वह बाहरसे अपावन हो ही नहीं सकता । उसका व्यवहार, बाह्य सम्पर्क, अर्जन-विधि, मर्यादा एवं व्यवस्थाका रक्षण, सामाजिक एवं राष्ट्रिय-सेवा, सभासदन प्रभृति सभीमें समयोचित कर्तव्य-निष्ठा, उद्योग-धन्धोंमें सत्य-प्रियता तथा सेवा-परायणता—ये सभी शुभ तथा भद्र होकर कल्याण-भवनका निर्माण करनेवाले सिद्ध होंगे ।

अध्यात्मवाद कोई काल्पनिक वस्तु नहीं, यथार्थ अनुभूतिपर टिका है । वह जीवनसे पलायन नहीं, कर्मण्यताकी जीवन्त आधारभूमि है । वह वनवास नहीं, संसारके कठोर समराङ्गणका वीरतापूर्ण जीवन है । विशेषता यही है कि आप प्रत्येक क्षेत्रमें भद्र बने रहें, पावनता, दिव्यता, शिवता सदैव आपकी संगिनी बनी रहे, शुभसे आप चिपके रहें, सत्को कभी हाथसे न जाने दें ।

यही शुभ, यही सत्, यही शिव आपको सुगमता प्रदान करेगा । चाहे आप रणमें हों या कर्षणमें, व्यवसायमें या स्वाध्यायमें; क्षण-क्षणमें आप इस कर्तव्य-परायणताके मन्त्रको स्मरण करते रहें । नीति-शास्त्रकी यही आधार-शिला है । जीवन-निर्माणका यही सफल साधन है । विश्वभरके लिये यही स्वर्णसिद्धान्त है । जो इसे अपनाता है, वही अध्यात्म-प्रेमी है । अध्यात्म-पथका पथिक इसीको शिरोधार्यकर चलता है और विजयको वरण करता हुआ सूर्यद्वारा स्वर्गमें, नन्दनवनमें, अमरपुरमें प्रवेश कर जाता है । मानव शुभके इसी दिव्य यानपर आरोहण करनेके लिये आया है । उसका जीवन क्षुद्रताका जीवन नहीं है ।

भारतके अध्यात्मचिन्तनने भगवान् रामको सबके हृदयोंमें रमा दिया । नन्दनन्दन कृष्णको सबका आकर्षण-केन्द्र बना दिया; ऋषभ, नेमि, बुद्ध, महावीर, नानक, कबीर सब-के-सब इसीके कारण इस धराधामपर वन्दनीय एवं पूजनीय बन गये । ईशु, मुहम्मद, जरथुस्त्र, कन्फ्यूशियस—सबका जीवन इसी अध्यात्मके ढाँचेमें ढला था । नीति, कर्तव्यपरायणता, परोपकारप्रियता, लेन-देनकी पवित्रता, द्वन्द्वोंमें सहनशीलता, निर्बलकी रक्षा और सबसे ऊपर कर्तव्य अर्थात् धर्मके लिये प्राणोंका उत्सर्ग करनेके लिये भी कटिबद्ध रहना हमारे अध्यात्मकी विशेष प्रणाली रही है । भारतका प्राण यही अध्यात्म है । विश्वके दुःख इसी अध्यात्मवादकी ओषधिसे दूर किये जा सकते हैं । आज इसके प्रकाश और पालनकी नितान्त आवश्यकता है । तभी भारत और विश्व उन्नयन—वास्तविक उत्थान कर और अग्रसर हो सकेंगे ।

विद्ययाऽमृतमश्नुते

पिण्ड और ब्रह्माण्डमें जड़ और चेतन—दो तत्त्व हैं । सांख्यवादी उन्हें प्रकृति-पुरुष कहते हैं । वैशेषिक दर्शन उन्हें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ कहकर विचार करता है । तत्त्वतः बात एक है । दृश्य जगत् जड़ है और इसका नियामक तत्त्व चेतन है । दोनों अनादि हैं । जो चेतन है वह 'ब्रह्म' है; क्योंकि वह सर्वत्र व्याप्त है । और, वह अन्य कुछ नहीं, केवल आत्मा है—जीवोंकी अन्तरात्मा है । उसके दर्शनके लिये जिस विद्याका उपयोग होता आया है, उसे अध्यात्मविद्या कहते हैं । अध्यात्मविद्या भूतमात्रमें आत्म-दर्शन है । आत्मदर्शनसे ही भारत विश्वगुरु हुआ । अध्यात्मविद्यासे मनुष्य 'अमृत' होता है—*विद्ययाऽमृतमश्नुते ।*'

आप दैवी सम्पत्ति अर्जित करें

(लेखक—श्रीगोरखनाथसिंहजी)

मनुष्यद्वारा जन्मसे मृत्युतक जितने भी प्रयत्न किये जाते हैं, वे या तो तृप्तिके लिये होते हैं या मुक्तिके लिये। मनुष्यके अतिरिक्त पशुओं और कीड़े-मकोड़ोंके जीवनमें मुक्तिका स्थान नहीं होता है। उनके सारे प्रयत्न तृप्तितक ही सीमित रह जाते हैं। यदि मनुष्य भी अपनी सारी जिंदगी विषयोंकी तृप्तिमें ही लगाता रहे तो निश्चय ही वह कीड़े-मकोड़ोंसे भी गया-गुजरा है। इसलिये कहा गया है कि यदि मनुष्य सच्चे अर्थोंमें मनुष्य है तो वह महान् है। उसके महान् होनेमें उसमें मानवोचित गुणोंका होना अपरिहार्य है। इन्हीं गुणोंको गीताके १६वें अध्यायमें दैवीसम्पत्ति कहा गया है। दैवी सम्पत्तिसे युक्त व्यक्ति मुक्तिका अधिकारी और आसुरी सम्पत्तिके लक्षणोंसे युक्त व्यक्ति बन्धनका शिकार होता है; यथा—

दैवीसंपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
(गीता १६। ५)

मनुष्य होनेके नाते हमें अपना अन्तर्निरीक्षण करना चाहिये कि क्या हममें दैवी सम्पत्तिके लक्षण हैं? यदि नहीं तो हमें अपने अंदर उन गुणोंको आत्मसात् करनेका यत्न करना चाहिये। दैवी-सम्पत्तिके लक्षण भगवान्‌ने निम्नवत् बतलाये हैं—

'अभय, आन्तरिक तथा बाह्य पवित्रता, ज्ञान-योगकी अवस्थिति, दान, इन्द्रियोंका नियन्त्रण, धार्मिक पुस्तकोंका अनुशीलन, अपने धर्मके लिये कष्ट सहना, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, दूसरोंकी निन्दा न करना, प्राणिमात्रके प्रति करुणा, लालचका अभाव, ऋजुता, निषिद्ध कर्मोंके करनेमें संकोच, निन्द्यकर्मोंका सर्वथा परित्याग, तेज, क्षमा, धैर्य, परिशुद्धता, किसीके प्रति शत्रुताका न होना, अभिमानसे रहित होना, हे अर्जुन! ये दैवीसम्पत्तिके लक्षण हैं। (१६। १-३) यदि हममें दैवी सम्पत्ति-का अभाव है तो निश्चय ही हम आसुरी सम्पत्तिसे ग्रस्त हैं। इसके लक्षण इस प्रकार हैं—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥
(गीता १६। ४)

'जो आसुरीगुणोंसे युक्त इस संसारमें पैदा होते हैं, उनमें दम्भ, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोरता तथा अज्ञानका समावेश होता है।' पुनश्च वे यह भी नहीं जानते हैं कि उन्हें क्या करना चाहिये और क्या नहीं? उनमें न तो पवित्रता होती है, न सदाचार और न सत्यता ही होती है—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥
(गीता १६। ७)

अन्ततः आसुरी सम्पत्तिके लक्षणोंसे युक्त व्यक्ति आजीवन विषय-भोगोंकी तृप्तिमें ही लगा रहता है। इसलिये उसे मूढ़की संज्ञा दी जाती है। वह बार-बार आसुरी योनिमें जन्म लेता है और मरता है। उसे अधमगति-(नरक-) की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत दैवीसम्पत्तिके गुणोंसे परिपूर्ण व्यक्ति काम, क्रोध, लोभसे मुक्त होकर अपने श्रेयका आचरण करता हुआ परमगति (मोक्ष)को प्राप्त होता है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥
(गीता १६। २१-२२)

'काम, क्रोध, लोभ-आत्मनाशक ये तीनों नरकके द्वार हैं। इसलिये इनका परित्याग करना चाहिये; क्योंकि हे अर्जुन ! इन तीनोंके नरकद्वारसे मुक्त हुआ व्यक्ति अपने श्रेयके लिये आचरण करता हुआ परमगतिको प्राप्त होता है।' अतः यदि आप अपने मनुष्य-जीवनको अन्य जीवजन्तुओंसे विशिष्ट मानते हैं तो दैवी सम्पत्तिके गुणोंका आकलन करने—आत्मसात् करनेकी साधना प्रारम्भ कर दीजिये। दैवी सम्पत्ति-वालेको कभी शोक नहीं होता। दैवी सम्पत्ति जीवनको दिव्य बना देती है।

भक्ति क्यों ?

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

'धर्मनिरपेक्ष राज्य'की भावनाको हमने बढ़ा-चढ़ाकर इस चरम सीमापर पहुँचा दिया है कि अब जीवनकी सारी बातें ही मानो धर्मनिरपेक्ष-सी हो गयी हैं। फलतः हमने चरित्र-को भी धर्मसे अलग कर दिया। आज हमारे देशमें चरित्र बड़ी शीघ्रतासे गिरता जा रहा है। समाजमें हर प्रकारके उपद्रव, व्यभिचार, भ्रष्टाचार और अनाचार इतने अधिक व्याप्त हो गये हैं कि वे उतने घृणितमरूपमें पश्चिमी सभ्यताके देशोंमें भी नहीं दिखायी पड़ते। आज हमारी बाह्यपूजा-उपासना भी सही रूपमें नहीं हो रही है। यह सब क्यों हो रहा है?—इन सब बुराइयोंकी जड़ है—श्रद्धा-भक्तिका अभाव। आज पिता-माताके प्रति, गुरु-शिक्षकके प्रति, वयोवृद्धोंके प्रति तथा पूजा करते समय अपने देवता अथवा अपने इष्टदेवके प्रति एवं स्वयं अपने प्रति भी हममें भक्ति (आस्था)का अभाव हो गया है। इसपर विचार करनेसे प्रतीत होता है कि इसी अनास्थासे आज चरित्र गिर गया है और गिरता जा रहा है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'चरित्र'से क्या तात्पर्य है और उसका आस्था या भक्तिसे क्या सम्बन्ध है?' हमारा उत्तर है कि चरित्रका अर्थ है—आचरण या व्यवहार। 'हलायुधकोष' (३९६)में कहा गया है—

'चरित्रं चरितं शीलं चारित्रं च समं स्मृतम्।'

चरित्रका एक अर्थ 'स्वभाव' भी होता है। यदि शील तथा चरित्र दोनों एक ही वस्तु हैं तथा स्वभाव के साथ मिली हैं तो शील बिना विनम्रताके प्राप्त नहीं हो सकता और विनम्रता केवल भक्तिसे प्राप्त हो सकती है। साधारणतः श्रद्धेयके प्रति विनम्रतापूर्वक व्यक्त की गयी निष्ठा-(आस्था-)का नाम भक्ति है।

श्रीमद्भगवद्गीताके ९वें अध्यायमें श्रद्धा-(भक्ति-)का बहुत सुन्दर विवेचन है। भगवान्‌ने कहा है—**'यजन्ते श्रद्धयान्विताः।'** 'जो अन्य देवताओंकी भी श्रद्धासे, शुद्ध चित्तसे पूजा करते हैं, वे उसी एक प्रभुका पूजन करते हैं। इस कथनमें श्रद्धाको ही मूल उपकरण कहा गया है। जो पत्र, पुष्प, फल या जल ही भगवान्‌को श्रद्धापूर्वक अर्पित करते हैं, भगवान् उसीको सहज प्रेमसे ग्रहण करते हैं। भक्तिकी कुछ ऐसी ही पद्धति है।

वैदिक मन्त्रोंमें देवताओंकी जो स्तुति है, वह भक्तिका ही आदिरूप है। उपनिषदोंमें उसका व्यावहारिक रूप प्रारम्भ होता है। श्वेताश्वतर पनिषद् (६। २३) तथा तैत्तिरीय उपनिषद्-(२। ७) में मानवके सम्पूर्ण आनन्दका आधार ब्रह्म ही प्रतिपादित है। पर इस परमानन्द ब्रह्मको बोधगम्य करनेके लिये उसे ईश्वरकी संज्ञा दी गयी है। ईश्वर है या नहीं, इस विवादका तो एक ही उत्तर है कि जो वस्तु है नहीं, उसके लिये नहीं शब्दका प्रयोग भी नहीं हो सकता; क्योंकि जिसका अस्तित्व नहीं होता, उसका निषेध भी नहीं होता। एस्किमो जाति 'आराम' नामकी

वस्तुको जानती ही नहीं। उसके वर्फके बीचके जीवनमें सतत संघर्ष है। अतएव उसकी भाषामें यह कहा भी नहीं जा सकता कि 'आराम नहीं मिलता।'

ईश्वर बोधगम्य है। वह अनुभवसे ही जाना जा सकता है। आद्य शंकराचार्यका भी यही मत है कि परमात्मा बुद्धिगम्य नहीं है। जब वे 'नेति-नेति'का प्रयोग करते हैं तो उसका तात्पर्य यही है कि न यह है, न वह है—तब क्या है, उसे अनुभवसे जान लो। महात्मा गांधी कहा करते थे कि संसारमें नित्य ऐसी अनहोनी बातें हो रही हैं, जो सिद्ध करती हैं कि कोई एक सर्वोपरि सत्ता-शक्ति सबका संचालन कर रही है। अतएव जीवनके प्रतिपलमें ईश्वरकी सत्ता सिद्ध होती है। किंतु ईश्वरको पहचानना या समझना सरल नहीं है। महाभारतके शान्तिपर्वके नारायणीयधर्ममें भक्तिका बड़ा सुन्दर निरूपण हुआ है। जिसपर प्रभुकी अपार दया हो जाय, वही उन्हें पहचान सकता है (महाभा० शा० ३४० । १६-१७)। इसलिये एकाग्रचित्त होकर उस अनिर्वचनीय तत्त्वका चिन्तन-ध्यान करना चाहिये (वही ३४० । १९)। किंतु उनमें प्रवेश उनकी अनन्य भक्तिवाले ही कर पाते हैं (वही ३५० । ७१)। कारण यह है कि साधारण व्यक्तिकी भगवान्‌में चित्तकी एकाग्रता शीघ्र नहीं हो पाती। सत्त्व, रज, तम—गुणोंसे युक्त, जीव मायाके वशीभूत होकर **'यन्त्रारूढानि मायया'**—चरखीमें बैठकर मानो चक्कर काट रहा है। इसी मायासे बचकर असली तत्त्वको पहचानने, जाननेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें **'मामेकं शरणं व्रज'**—एकमात्र मेरी शरणमें आ जाओ' का उपदेश दिया है। पर यहाँ भी मनुष्यका अहंभाव उसे कभी-कभी धोखा दे देता है। शरणका वास्तविक रहस्य न समझकर वह बाह्य-साधन—पूजा-पाठकी शरणमें चला जाता है। पूजासे उठते ही वह मायाकी शरण पकड़ लेता है। वह सोचता है कि संसारके कामको भक्ति तथा उपासनासे जोड़नेसे संसार नहीं चलाया जा सकेगा। घर-गृहस्थी भी करनी है। दूकानदारी, नौकरी, लेन-देन इत्यादिमें ग्राहक-मालिकके सम्बन्धोंका निर्वाह करना है। वह सोचता है कि संसारका काम तो पैसेसे चलता है, भगवान्‌से क्या मिलेगा? यहीं उसकी भूल भगवान्‌से, उनकी भक्तिसे उसे अलग कर देती है।

शरणागतिका रहस्य

प्रपत्ति अथवा शरणागतिकी बात तो वैसे सभी करते हैं, पर लोक-व्यवहारमें यह बात उतरती नहीं दीखती। क्या शरणागतको निष्क्रिय हो जाना चाहिये?—वह (शरण्य) जो चाहे करे, इष्ट जो चाहे वही करे, हम मात्र उसका नाम ही लेते रहें? महाभारतके अनुसार ईश्वरकी कृपासे ही हमें बुद्धि और ज्ञान प्राप्त होता है और हम अपने कर्म-कुकर्मपर पश्चात्ताप भी करते हैं। तब मान लेना चाहिये कि 'हमारा दोष नहीं है, उस—(परमात्मा-)ने कृपा नहीं की, हम उसे पहचान न सके,' अतएव हम यदि कुकर्म कर रहे हैं तो इसका दायित्व उसीपर है? किंतु विचारणीय है कि जब हम स्वयं ईश्वरमें विलीन हो जानेकी क्षमता रखते हैं तो हमने स्वयं अपनेको उनसे दूर क्यों रखा है? शाण्डिल्य-सूत्र (३) में छान्दोग्य-उपनिषद्‌को स्मरण करते हुए कहा गया है कि जो ईश्वरमें है, **'तत् संस्थ'** है—मन, वचन, कर्मसे अपनेको उसमें स्थापित कर चुका है, वह परमानन्दको प्राप्त करता है। पर यह हो कैसे? मानव घर-गृहस्थी, वैभव, धन-मान तथा अधिकार आदिमें जो आनन्द है, उसे ईश्वर-साक्षात्कारसे प्राप्त होनेवाले परमानन्दसे बहुत कम नहीं मानता है। नारद-भक्ति-सूत्र-(३)में ईश्वरसे प्रेमको ही परम सुखकी प्राप्ति कहा है। पर क्या पत्नीसे प्रेम और ईश्वरसे प्रेममें कोई अन्तर है? उसकी इस प्रकार-की भावना बनी हुई है! यह धारणा बद्धमूल हो चुकी है। परन्तु यह भावना और धारणा सर्वथा असत् है।

राग, विराग, रस, अनुरक्ति—यह सब हमारे स्वभावमें जुड़े हुए हैं। स्त्री या परिवारसे सांसारिक सुखोंकी प्राप्ति हो सकती है, पर कबतक ? न सदैव प्रेमी रहेगा, न प्रेमिका। न अन्ततक परिवारवाले साथ देते हैं, न ये आत्मीय जन। जब हम स्वयं अपने रोग, अपनी पीड़ा, अपनी असमर्थतासे कराहते हैं तो वे सहानुभूति दिखा सकते हैं, पर कष्टको बाँट नहीं सकते। यही नहीं, दीर्घकालीन बीमारी या वृद्धावस्थाकी अक्षमतासे निकटस्थजन ऊब भी जाते हैं। तब रागविराग, अनुरक्ति तथा रस-प्रेम और उसकी अजस्रधाराका यदि सच्चा सुख लेना है तो फिर हम प्रभुसे ही प्रेम क्यों न करें ? इसका एक कारण भी है। सांसारिक प्रेममें स्वार्थ प्रविष्ट होता है। आदान-प्रदानकी इच्छा सताती रहती है। पर प्रभु-प्रेममें यह बात नहीं है। उसमें तो हम तभी सफल होंगे, जब समस्त इच्छाओं और आकाङ्क्षाओंका निरोध कर उनकी सच्ची भक्ति करेंगे। पर हम नित्य-प्रतिके पूजा-पाठमें भी प्रभुसे कुछ-न-कुछ माँग करते रहते हैं। इसीलिये वह विशुद्ध प्रेम नहीं हो पाता; वह तो एक प्रकारका सौदा हो जाता है।

संस्कारका फल तो भोगना ही पड़ता है। केवल उपासनासे कुसंस्कारोंका क्षय होता है। जितना अधिक क्षयहोगा उतनी ही अधिक प्रभुकी कृपा प्राप्त होगी। जो नहीं मिला, प्रभुसे माँगते हम थक गये; पर फिर भी नहीं मिला। इसमें हमारी नित्य सकाम उपासनाकी नयी कामनाएँ ही दोषी हैं, जो सकाम उपासनाका दुष्परिणाम हैं। इसमें प्रभुकी अकृपा हेतु नहीं है। अतः सब कुछ भगवान्पर छोड़कर उन्हींके चरणोंमें अपनेको अर्पित कर देनेवाला व्यक्ति निष्क्रिय नहीं हो सकता; वह अपने नित्य-प्रतिके कर्तव्य-कर्मोंसे भागता नहीं है। जिसने अपनेको प्रभुके अर्पित कर दिया है उसका प्रत्येक कर्म भगवान्के लिये होता है। जो आचार-व्यवहार या कर्तव्य-कर्म उसे परिवार, समाज तथा देशके प्रति करने पड़ते हैं, उन्हें प्रभुकी आज्ञा या प्रभुसेवा मानकर वह पालन करने लगता है, अपनी किसी स्वतन्त्र इच्छासे नहीं। इच्छाओंको तो उसने प्रभुके आश्रित कर दिया है। कर्मके फलकी उसे कोई चिन्ता नहीं होती। चिन्ता केवल रहती है—प्रभुसे उसका सम्पर्क न टूटे, ध्यान न हटे। भक्तिकी यही निष्ठा है।

भक्तिकी भी दो मुख्य श्रेणियाँ हैं—पहली पराभक्ति है। शाण्डिल्यने इसे ही 'एकान्तिक' कहा है। प्रभुसे बस प्रेम है, केवल उनका प्यार पानेके लिये और कुछ नहीं। नारदजीने भी इसीका समर्थन किया है। यह प्रथम श्रेणीकी भक्ति हुई। दूसरी है—सकामोपासना। सकाम-उपासकको यह विश्वास ही नहीं होता कि उसका आराध्य सब कुछ जानता है। पर हमारी क्या स्थिति है, क्या विपत्ति है—इन सबसे वह भलीभाँति परिचित है। तब तो उससे कुछ कहने या याचना करनेकी आवश्यकता ही क्या है ? जो भगवान्‌को सर्वज्ञ नहीं मानते, न्यायकारी नहीं मानते, वे ही उनसे कुछ-न-कुछ माँगा करते हैं और माँगकर अपना अज्ञान ही व्यक्त करते हैं। जो पूजासे उठकर पड़ोसीकी परेशानी, दुःख तथा पीड़ासे अपनेको अछूता समझकर उसमें हाथ नहीं बँटाता या पूजाके बाद लोक-कल्याणके कार्यसे तटस्थ रहता है, वह नितान्त अभक्त तथा अज्ञानी है; इसलिये कि वह यह मानता ही नहीं कि प्रभु सर्वत्र हैं, सबमें हैं। वस्तुतः सबकी आत्मा एक ही है और सबका सुख-दुःख हमारा अपना है। सच्चा भक्त सबमें अपनेको, अपने प्रभुको, अपनी आत्माको देखता है और यह तभी सम्भव है, जब उसकी भक्ति निष्काम हो। किंतु हम वैसी ही भूल कर रहे हैं जैसे हम भगवान्से कहें कि हमारा अमुक प्रतिद्वन्द्वी हमसे पराजित हो जाय और दूसरी ओर हमारे प्रतिद्वन्द्वीके भी ऐसी ही प्रार्थना करते रहने-पर समझी जा सकती है। दोनोंमेंसे एककी विजय

तो होगी ही और जो जीतेगा, वह प्रभुको धन्यवाद देगा तथा जो हारेगा, प्रभुको उलाहना देगा। नृशंस हत्या करनेवालेकी पत्नी भी मन्दिरमें जाकर अपने पतिके छुटकारेकी प्रार्थना करती है, पर वह अपने पतिके संस्कारको नहीं देखती। परमात्मा उसे बुद्धि दे सकते हैं, परिताप सहने तथा पश्चात्ताप करनेकी शक्ति भी दे सकते हैं, पर वह अपने विधानानुसार हत्या-जैसे जघन्य पाप-कर्मके फल-भोगमें हस्तक्षेप कैसे कर सकते हैं? अतः उनसे ऐसी माँग मूर्खता है। प्रभुसे शुद्ध प्रेम करनेसे सुबुद्धि आती है, सही मार्गपर चलनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। प्रभु-प्रेमके मार्गपर जो चल पड़ा, समझो कि उसपर परमात्माकी इतनी बड़ी कृपा है, जिसका मूल्याङ्कन नहीं हो सकता।

प्रभुको समर्पणका स्वारस्य

स्वयंको प्रभुके प्रति समर्पित करनेके तीन मुख्य प्रकार हैं—शान्त, दास्य तथा सख्य। शान्त सर्वोपरि है। इसमें केवल आत्मलीन हो जानेके अतिरिक्त साधकको और कुछ चाहना या करना नहीं होता। दास्य-भावमें भक्त अपनेको भगवान्‌का दास मानकर उनकी सेवामें लीन हो जाते हैं। पर अपने इष्टकी सेवामें लीन व्यक्ति यदि अपनी उपासनाकी एकाग्रतामें यह भूल जाय कि बगलके मकानमें पीड़ासे कराहते हुए रोगीकी दवा लानेवाला कोई नहीं है; अतः उसे दवा लाकर देनी चाहिये। नहीं तो उसकी दासता व्यर्थ है। प्रभु मात्र सेवा-उपासनासे प्रसन्न नहीं होते। यदि परमात्मतत्त्वको प्रत्येक जीवात्मामें नहीं देखा तो फिर प्रभुकी वह उपासना कैसे? '*सीय राम मय सब जग जानी*'की भावनाको भूलकर मनुष्यको प्राप्तव्य कैसे प्राप्त हो सकता है!

भक्तिके तीन भाव और हैं—वात्सल्य, (जैसा प्रेम गाय बछड़ेसे करती है,) मधुर भाव (जैसा प्रेम गोपिकाओं-का श्रीकृष्णके प्रति था) तथा आधिपत्य—प्रभुको अपना अभिभावक मानकर चलना। पर ये सब रजोभाव हैं और इनमें तामसी प्रवृत्ति मिली रहती है। देखने-सुननेमें अच्छा लगता है, पर ऐसी ऊपरी उपासनाओंमें सांसारिक रागी-विरागी ही उलझा रहता है। असली भक्ति 'शान्त' है जिसे गीतामें इस रूपसे कहा गया है—

'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु'।

भक्ति जब सत्त्व, रज तथा तम गुणोंको लेकर होती है तो उसे विधि तथा 'मर्यादा-भक्ति'की संज्ञा प्राप्त होती है। पर परमानन्द इन तीनों गुणोंसे ऊपर है—अस्पृश्य है। परमानन्द परमेश्वर हैं, हरि हैं। उड़ीसाके गौड़ीय संत श्रीबलदेव विद्याभूषणने 'वेदान्त-सूत्रका' भाष्य लिखा है। इसके 'गोविन्दभाष्य'में उन्होंने स्पष्ट किया है कि ब्रह्म ही हरि हैं। इन्हीं हरिकी भक्ति करनेसे भागवतमें परम भक्त प्रह्लाद-उद्धवादिको भागवतोत्तम-की उपाधि दी गयी है। दक्षिणके भगवत्पाद आचार्य शंकर, रामानुजाचार्य, निम्बार्क, बंगालके महाप्रभु चैतन्य और उनके अनुयायी जीवगोस्वामी तथा अन्य संत—विज्ञानभिक्षु, संत श्रीकर इत्यादिने अपने उपदेशों और रचनाओंमें बार-बार समझाया है कि जीव ही ब्रह्म है। पर उस ब्रह्मको पकड़में लेना सहज काम नहीं है। उसको प्राप्त करनेके लिये प्रभुकी अनन्य और निष्काम भक्ति ही एकमात्र साधन है। प्रभुके साथ जीवका प्रेम स्वाभाविक है—अपनेसे ही अपनेको प्रेम होता है। आचार्योंने विशुद्ध प्रेमकी व्याख्या कर दी है। भक्ति 'ऐकान्तिकी', अहैतुकी' और 'आत्यन्तिकी' होनी चाहिये। निश्छल, निष्काम तथा परम भक्ति ही सार्थक है।

उपासनाके जो क्रम निर्धारित हैं, वे केवल उस चरम लक्ष्यतक पहुँचनेकी सीढ़ियाँ हैं, जिनपर चढ़ते हुए 'आत्मलीन' हो जानेका श्रेय प्राप्त होता है। पर शिखरपर जानेवाला यदि ऊँचाईका अनुमानमात्र करके प्रथम सीढ़ीपर ही खड़ा रह जाय, तो वह फिर ऊपर पहुँच नहीं पायेगा। पूजा-पाठ, उपासना इत्यादि ऐसी ही श्रेणियाँ हैं—प्रथम साधन हैं, साध्य नहीं हैं।

अभक्तिसे हानि

संसारकी बात तो जाने दीजिये, आज भारतमें जो उपद्रव हो रहे हैं, वे इसीलिये कि हममेंसे भक्ति उठ गयी है। योग अथवा हठयोग सबके बूतेकी बात नहीं है। जो भगवद्-भक्त होगा, वह पशु-पक्षीमें या चर-अचर सबमें श्रीभगवान्‌का प्रतिबिम्ब देखेगा। किसीको छुरा मारनेके समय, हत्या करते समय, व्यभिचार या बलात्कार करते समय उसे लगेगा कि वह श्रीभगवान्‌के साथ या अपने साथ ही ऐसा कर रहा है। तब उसकी अन्तरात्मा काँप उठेगी। वह उसे ऐसा करने नहीं देगी। आज सर्वत्र पापाचार हो रहा है। अपराधोंकी संख्या बढ़ रही है। आखिर, इस सबके शमनका उपाय क्या है? सरकार अपनी ओरसे चाहे जो उपाय करे, पर समाजका रोग तो समाज ही दूर कर सकता है। समाजमें यदि धर्मकी भावना बनी रहे, बढ़ती रहे तो फिर उच्छृङ्खलता नहीं रहेगी। हमने धीरे-धीरे धर्मपर जो आघात पहुँचाया है उससे समाजकी आत्मा ही छिन गयी है। इससे मानव-समाजको सुप्त बना दिया गया है। सर्वत्र अकर्मण्यता व्याप्त होती जा रही है, जो अत्यन्त भयावह है। हमें जगा सकती है केवल धर्मबुद्धि। धर्मबुद्धि भक्तिकी त्यागमयी, समर्पित भावनासे ही उत्पन्न होती है। योग, तप इत्यादि आजके युगमें कठिन हैं, दुष्कर हैं, पर भक्ति (भावनापूर्ण उपासना) सरलतम साधन है। अतएव जिसे भारतीय समाजकी वर्तमान गिरती हुई स्थितिकी चिन्ता हो, उसे स्वयं श्रद्धा-भक्ति एवं त्यागमार्गका प्रतिपादन एवं अनुसरण करना होगा। उसी दिशामें समाजको ले चलना होगा। तभी हम अपने परिवार, समाज और देशकी सच्ची सेवा करते हुए अपने प्राप्तव्य—आत्म-कल्याणको प्राप्त कर सकेंगे।

मीराबाईकी भक्ति-भावना

(लेखक—प्रो० श्रीवसन्तभाई बी० जोशी)

कृष्ण-भक्तिके क्षेत्रमें सूरदासके समकक्ष दूसरा भक्त कवि नहीं दीखता। इसी प्रकार कृष्णभक्तिके कविता-क्षेत्रमें मीराबाई भी समग्र स्त्री-भक्तोंमें अनन्य हैं। गिरधरलालकी मूर्तिकी ओर इङ्गित कर कभी बाल्यकालमें ही इन्होंने कहा था—'यही मेरा वर है।' उनकी 'बालपन' की यह प्रीति अलौकिक परिणयमें परिणत हो गयी। फलतः मीराबाईके जीवनका सर्वाङ्ग माधुर्य-भक्तिसे भर उठा। मीराबाईके समग्र जीवन-व्यापारके आलम्बन श्रीकृष्ण बन गये। पारिवारिक परिस्थितियाँ भी उनके ऐहिक जीवनमें निरन्तर इस प्रकार निर्मित होती गयीं, जो उनकी आस्थाको दृढ़ करती गयीं। संसारके कटु अनुभवोंकी तीव्रता ज्यों-ज्यों बढ़ती गयी, त्यों-त्यों मीराबाईके हृदयमें भक्तिका माधुर्य बढ़ता गया और इस माधुर्यसे मीराबाई क्रमशः परम तत्त्वके पास आती गयीं और संसार पीछे छूटता गया। वे 'भगवत देख राजी हुई, जगत देख रोई।' साधु-सङ्गमें बैठ-बैठकर वे प्रेमवेलिको 'अंसुवन जल' से सींचने लगीं।

मीराकी भावनाओंकी उत्कट गंध मेड़ता या मेवाड़के राजमहलोंकी दीवारोंमें बंद न रह सकी। अनेक साधु-संत-फकीर मीराबाईके दर्शन करने, उनका सत्सङ्ग लाभ करने आने लगे। 'लोकलाज' या कुलकी मर्यादाकी परवाह किये बिना मीराबाई ऐसे साधुओंके साथ बैठकर भगवच्चर्चा करतीं। उनके लिये सभी संत ज्ञानी थे, सभी अधिकारी थे और सभी संतोंके लिये मीराबाई पूज्य थीं। इस संत-संगतिका परिणाम यह हुआ कि मीराबाईकी अभिव्यक्तिमें उस समयकी प्रचलित सभी भक्तिधाराओंके अमृत-बिंदु समा गये। इसीसे राम-भक्तिका-सा दास्यभाव, कृष्णभक्तिका-सा सख्य एवं शृङ्गार, ज्ञानाश्रयी संतोंकी-सी रहस्यात्मक आध्यात्मिक प्रेम व्यञ्जना—ये सब मीराबाईकी माधुर्यभक्तिके मधुरपेय

में घुलमिल कर एक हो गये । केवल विशिष्ट शब्द-प्रयोगोंसे ही ऊपरी भेद परखा जा सकता है। भीतर तो वियोगकी आगमें पिघलकर सब रस-रूप एक हो चुका है। मीराबाईके लिये निर्गुण, सगुण, राम-कृष्ण, हरि-गोविन्द सब एक ही हैं। परमात्माके लिये चाहे कैसा भी शाब्दिक अभिधान क्यों न प्रयुक्त किया जाय, उनके 'अव्ययत्व'में अन्तर नहीं आता। मीराबाई भी अपने आराध्यके लिये कृष्ण, राम, गिरधरनागर, साजन, पिय, जोगी इत्यादि मनमाने ढंगसे अनेक शब्दोंका प्रयोग करती हैं, किंतु ये सभी शब्द केवल हृदयस्थ कृष्णभावके व्यञ्जक बन जाते हैं। सबकी एक ही ध्वनि है—**'मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरो न कोई ।'**

मीराबाईकी भक्ति माधुर्य-भावकी भक्ति है। नवधा-भक्तिमें माधुर्यभक्तिके मिलनेसे 'दशधा-भक्ति' बन जाती है; किंतु मीराबाईका माधुर्यभाव नवधाभक्तिमें घुलमिल कर 'नवधा' बन जाता है। शास्त्रोंमें नवधाभक्तिका उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

मीराबाईकी माधुर्यभक्तिमें नवधाभक्तिके सभी अंश दिखायी पड़ते हैं, किंतु दास्य, सख्य और आत्मनिवेदनकी रागात्मकमात्राका आधिक्य है। श्रवण, कीर्तन और स्मरण मीराबाईकी भक्तिके बीजके आधारकी श्रद्धाभूमि हैं। अर्चन, वन्दन और पादसेवन 'अँसुवन जल' से सिंचित, अर्चित इस प्रेमवेलिके पनपने, फैलने और पुष्पित, फलित होनेके वैधी-भक्तिके आधार-स्तम्भके समान हैं और दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन 'आनन्दफल' के माधुर्यकी अलौकिक रागात्मक अनुभूतिके रूपमें है।

मीराके कोमल हृदयपर अपने पितामहके धार्मिक श्रद्धाभावका प्रभाव भगवद्भक्तिके बीजके रूपमें पड़ा था। कालान्तरमें सतसंगतिमें ईश्वरके गुण-श्रवणके द्वारा वह बीज पल्लवित-पुष्पित हुआ। जिस गिरधर-गोपालको बाल-सुलभ भोलेपनमें 'परानुरक्ति'से पति मान लिया था, उसीके गुणोंके श्रवणके द्वारा **'प्रेम बेलि बोई'** और उसी वेलीको प्रेमाश्रुओंसे सींचा। इस प्रकार भक्तिवेलिसे 'आनन्दफल' पानेके विश्वासमें मीराबाईकी यह उक्ति—**'साधुन संग बैठ-बैठ लोकलाज खोई'**। इश्क-मस्ताने कबीरदासकी इस उक्ति—**'हमन दुनियासे यारी'**का-सा भाव मीराबाईमें माधुर्य-भक्तिके आरम्भकी इस श्रवणास्थासे ही क्या न आ गया था? उन्होंने गाया था—**'म्हारां री गिरधर गोपाल दूसरा णा कूयां। माया छोड्यां, बंधां छोड्यां, छोड्यां सगां सूयां॥'**

मीराबाई भगवान्‌के सामने गातीं, नाचतीं और इस प्रकार अपना आराधिका-रूप भगवान्‌के सामने प्रकट करती थीं। पैरोंमें घुँघरू बाँध नाचतीं, ताल-पखावज बजातीं, भजन-भावमें मगन रहतीं— **'हरि मंदिर मां निरत'** करतीं और **'धूँघरया'** (घूँघरू) धमकातीं। भजनभावमें मत्त बनीं डोलतीं और **'गिरधर पे बलि'** जाती थीं। उनके विभिन्न पदोंमें कीर्तनका भाव प्रकट हुआ है। मीराँबाईके लिये **'साँवरो उमरण, साँवरो सुमरण, साँवरो ध्यान'** ही दिनचर्याका मुख्य अंश है। वे कहती हैं—**'चित चढ़ी म्हारे माधुरी मूरत।'** और प्रतीक्षामें **'कबरी ठाढ़ी पंथ निहारती'** हैं। श्रीकृष्णका स्मरण वे **'दिन-राती'** बिसार नहीं सकतीं। स्मरणका भाव मीराबाईके साँसोंकी प्रकृति बन गया है। इस प्रकार श्रवण, कीर्तन और स्मरण, श्रद्धा-विश्वास भक्तिकी पक्की नींवके रूपमें मीराबाईकी भक्तिमें आ गये हैं।

मीराबाईमें यह वैधी भक्ति भी दिखायी पड़ती है। गिरधरलालकी जिस मूर्तिको मीराबाईने अपने साथ रखा था उसका पूजन-अर्चन वे स्वयं करती रहीं। ससुरालमें अपने महलमें उस मूर्तिकी स्थापना करके उसका पूजन-अर्चन करना मीराबाईका नित्य-क्रम बन गया था। अर्चन, वन्दन और पाद-सेवनकी वैधी प्राथमिकता तक ही मीराबाईकी भक्ति-भावना सीमित न रही, किंतु उसकी

अभिव्यक्ति भी उनके पदोंमें स्थान-स्थानपर हुई है। वे कहती हैं—'मन रे परस हरि के चरण'। 'जिह-जिह विधि रीझे हरि कीजै हो' इस अर्चन, वन्दन और परस (स्पर्श) से भरे मीराबाईके श्रद्धा-माधुर्यने आराध्यके 'आरस रूप' को 'पारस रूप' बना दिया है। इन पङ्क्तियोंमें 'प्रभुपद' के 'पारस-स्पर्श'का भाव स्पष्ट झलकता है—

मन रे परस हरि के चरण।
सुभग सीतल कँवल कोमल, जगतज्वाला-हरण।
इण चरण प्रहलाद परस्याँ, इन्द्र-पदवी-धरण।
(मीराभजनावलि १३)

मीराबाईने अपने-आपको परमात्माकी वियोगिनीके रूपमें प्रस्तुत किया है, फिर भी इस प्रस्तुतिमें दास्य-भाव आ गया। गोस्वामी तुलसीदासजीने 'सेवक-सेव्य-भाव'को भक्तिका उत्तम लक्षण बताया है[1]। प्रेम-लक्षणा-भक्तिमें—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' कहकर नारदजीने 'अनुराग'को प्राधान्य दिया है। मीराबाईने अपने-आपको अनेक बार ईश्वरकी 'दासी' के रूपमें व्यक्त किया है। यह 'दासी-रूप' 'पत्नी-रूप' का ही आदर्श रूप है, जो निःशेषभावसे समर्पणमें लय हो जाता है। मीराबाई कहती हैं—'दासी मीरा लाल गिरधर, मीरा रे प्रभु दासी रावली', 'मैं तो जन्म-जन्मकी दासी', 'हौं तो बिन मोलकी दासी' 'मीरा गिरधर हाथ बिकाई', 'म्हांने चाकर राखोजी', 'गिरधारी लाला म्हांने चाकर राखोजी।'—इन सभी पंक्तियोंमें मीराबाईका दास्य-भाव प्रकट हुआ है। यह दास्य-भाव 'कान्ताभाव'की विनम्रताका परिचायक है। यह विनम्रता एक ओर 'बेचे तो बिक जाऊँ' की तत्परता दिखाती हैं और दूसरी ओर 'लियो री तराजू तोल' कहकर बेचनेवालेको खरीद लेनेकी अधिकार-क्षमता रखती हैं। इस प्रकार मीराबाईका दास्यभाव 'सेवक सेव्यभाव'में व्यक्त दास्यकी तुलनामें अधिक निर्व्याज, अधिक आत्मीय, अधिक समर्पित, अधिक स्वत्वशील, अधिक कोमल और कभी मौन, कभी मुखर, कभी रूठा, कभी रीझा, कभी हारा, कभी जीता दिखायी पड़ता है, जो पति-पत्नीके सम्बन्धसे जन्मा दास्यकी तुलनामें नहीं रखा जा सकता। पुरुषहृदयसे जन्मा दास्य नारीहृदयकी स्वाभाविक विशेषताओंको सम्हाल नहीं पाता। मीराबाईका दास्य-भाव उपर्युक्त ऊर्मियोंसे झलकता है, अतः गोस्वामीजीके दास्य-भावसे उसका रूप निराला है।

मीराबाईका मुख्य भाव माधुर्य था, जिसे कान्ताभाव भी कहते हैं। नारी धर्मपत्नीके रूपमें रहकर गृहिणी, सखी, सचिव, शिष्या आदि रूपोंमें प्रकट हो सकती है। कालिदासने रघुवंशके **'गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ'**(८।६७)में पत्नीके इन रूपोंका उल्लेख किया है। मीराबाई अपने गिरधरलालके प्रति सख्य-भाव इन शब्दोंमें प्रकट करती हैं—'रैण दिना काके संग खेलूँ', 'जनम-जनमका साथी थांने ना बिसरूँ दिन राती', 'पूरब जनमका साथी', 'सांकड़ारो साथी', 'प्रेम पियारा मीत', 'बालापनरी प्रीत रमैयाकी', 'मीराके प्रभु कब रे मिलोगे' 'पूरब जनमका साथी', 'गोविन्द गाढ़ा छो जी दौलरा मीत।' उक्त पङ्क्तियोंमें सख्यकी झलक मिलती है, किंतु इस भावकी स्थिरता और गहराई अधिक नहीं पायी जाती; क्योंकि मीराबाईके हृदयमें 'प्राण पियारे मीत'को पानेकी बेकरारी बढ़ी हुई है। उनके कलेजेमें कसक है, लहर-लहर उनका जीव जा रहा है। इस मनोदशामें सख्यकी अनुभूतिकी कुछ घड़ियाँ ही हो सकती हैं। यही कारण है कि महाकवि सूरदासमें निरपेक्ष सख्यका जो स्वच्छन्द-मुक्त निखार देखा जाता है, वैसा त्रस्त, व्यथित अबला मीराबाईमें नहीं दिखायी पड़ता।

रागात्मिका भक्तिकी परमोन्नत दशा है—आत्म-निवेदन। अनासक्तभावसे आत्म-समर्पण ही आत्मनिवेदन है। मीराबाईका आत्मनिवेदन कान्ता, सख्य, दास्य आदि भावमाध्यमोंसे आर्त-पुकारके रूपमें प्रकट हुआ, जिसमें अपने उद्धारकी विनय है। मीराबाई आर्त स्वरमें पुकारती हैं—'मैं तो तेरी सरण परी रे रामा ज्यूं जाणे स्यूं तार'। 'मेरो बेडो लगाज्यो पार, प्रभुजी मैं अरज करूं छूँ।' 'या भव में मैं बहु दुख पायो।'—इत्यादि।

१—'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि'। (मानस)

मीराबाईकी भक्तिके माधुर्यमें गुण, रूप, पूजा, स्मरण, सख्य, दास्य, कान्ताभाव, वात्सल्यभाव, आत्म-निवेदन, तन्मयता एवं परम विरह—ये ग्यारह आसक्तियाँ भी अभिव्यक्तिगत वैभिन्न्यमें देखी जाती हैं। छवि देखकर वे मोहित हो गयी हैं—'या छवि देख्यां मोइयां मीरां'। मुख देखतेही मीराका मन फँस गया है—'निरख बदन म्हारो मनड़ो फस्यो।' रूप देखकर वे उस रूपमें अटक गयी हैं—'थारो रूप देख्यां अटकी। ऐसे ही मीरा प्रभुरे रूप लुभाणी। गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम, म्हां गिरधर रंगराती सैयां'—इस प्रकारके शताधिक हृदयोद्गार कान्तासक्तिमें पगे हुए होनेके प्रमाण उपन्यस्त करते हैं। मीराबाईका माधुर्य-प्रवाह आराध्यके माहात्म्यको स्वीकार करते हुए दास्य एवं कान्तासक्तिके दोनों किनारोंको छूता हुआ समर्पणकी चरमावस्थाकी ओर आगे बढ़ता रहता है। इस प्रकार इस माधुर्य-प्रवाहमें कभी दास्यकी विषादभरी करुण विनयके सुर सुनायी पड़ते हैं तो कभी इसमें कान्ताके लास्यकी तन्मय नूपुर-ध्वनि सुनायी पड़ती है। 'पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे' में कान्ताकी तन्मयताका लास्य है, तो 'मेरो बेड़ो लगाज्यो पार, प्रभुजी मैं अरज करूँ छूँ' तथा 'मैं तो दासी थारी जनम-जनमकी' में दास्यकी करुण विनय है। वात्सल्य-आसक्तिके लिये मीराबाईकी मधुरानुभूतिमें कम अवकाश था। 'बाललीला'के इने-गिने पदोंमें मीराबाईने श्रीकृष्णके बालरूपका अङ्कन किया है। महात्मा सूरदासने पदोंमें वात्सल्यकी अमृत-धाराको अनन्य रखनेके लिये यशोदाके आँचलसे छानकर बाँधी थी। आत्म-निवेदन, तन्मयता और परम विरह—ये माधुर्य-भक्तिके चरम सोपान हैं। मीराबाईने अनासक्त-भावसे अपना निःशेष समर्पण भगवान्‌के सामने कर दिया है। आराध्यके स्मरणमें वे देह-बोध खो बैठी हैं, तभी लोग उन्हें 'बावरी' कहते हैं। विरहके क्षेत्रमें तो मीराबाईका मानो सर्वाधिकार था। मीराबाई कृष्णभक्ता थीं। कृष्णके प्रेमका प्याला पीकर वे अमर बन गयीं। उस प्रेमका 'अमल' उतरनेवाला नहीं है—

पिया पियाला अमर रस का, चढ़ गई घूम-घूमाय।
यों तो अमल म्हांरो कबहूँ न उतरे, कोटि करो उपाय॥

वस्तुतः मीराकी भक्ति-भावना अत्यन्त उच्चकोटिकी थी। वह 'परानुरक्ति'की चरम परिणति थी, जो श्रीकृष्णके साथ कान्ताभावमें अनुस्यूत होकर सर्वथा चरितार्थ हो गयी।

'चरण-कँवल मीरा लपटानी'

जिस रूपपर मीराका हृदय लुभाया है, वह जगत्‌को लुभानेवाला है। इस सुन्दर रूपपर, इस बाँकी चितवन और मन्द-मन्द मुसकानपर कौन न लुट जाय। और फिर यमुनाके तीरपर गायोंको चराते-चराते वह वंशीमें मीठी 'बानी' गाने लगता है—'*नामसमेतं कृतसंकेतं वादयते मृदुवेणुम्*'; फिर कैसे न मीरा इस संकेतभरी मुरलीके स्वरको सुनकर अपना तन, मन और प्राण उस गिरधरनागरपर न्यौछावर करके उन्हींके 'सुभग-शीतल कमल-कोमल त्रिविधज्वालाहरण' चरणोंमें लिपट जाय ? मीराकी शब्दयोजना है—

या मोहन के मैं रूप लुभानी।
सुंदर बदन कमल-दल-लोचन बाँकी चितवन मंद मुसकानी॥
जमुना के नीरे तीरे धेनु चरावे बंसी में गावें मीठी बानी।
तन मन धन गिरधर पर वारूँ चरण-कँवल मीरा लपटानी॥

—'मीराकी प्रेम-साधना'

गीताका कर्मयोग—२५

[श्रीमद्भगवद्गीताके तीसरे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या]

(लेखक—परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

(गताङ्क—७, पृष्ठ-सं० २६०से आगे)

सम्बन्ध—लोकसंग्रहके प्रकरणमें अब भगवान् अगले तीन श्लोकोंमें अपना उदाहरण देकर कर्तव्य-कर्म करनेपर विशेषरूपसे जोर देते हैं ।

श्लोक—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

भावार्थ—हे पृथानन्दन ! मेरे लिये त्रिलोकीमें कुछ भी करना शेष नहीं है । कुछ-न-कुछ पानेकी इच्छासे ही करनेका भाव उत्पन्न होता है, जबकि मेरे लिये त्रिलोकीमें प्राप्त होने योग्य कोई वस्तु अप्राप्त नहीं है । ऐसा होते हुए भी मैं लोकसंग्रहके लिये कर्म करता हूँ ।

अपने लिये कोई कर्तव्य न होनेपर भी भगवान् केवल दूसरोंके हितके लिये अवतार लेते हैं और साधु पुरुषोंका उद्धार, पापी पुरुषोंका विनाश और धर्मकी संस्थापना करनेके लिये कर्म करते हैं (गीता ४ । ८) । अवतारके अतिरिक्त भगवान्‌की सृष्टिरचना भी जीवमात्रके उद्धारके लिये ही होती है । स्वर्गलोक पुण्य-कर्मोंका फल भुगतानेके लिये है और चौरासी लाख योनियाँ एवं नरकलोक पापकर्मोंका फल भुगतानेके लिये हैं । मनुष्ययोनि पुण्य और पाप दोनोंसे ऊँचे उठकर अपना कल्याण करनेके लिये है । ऐसा तभी सम्भव है, जब मनुष्य अपने लिये कुछ न करे । वह सम्पूर्ण कर्म (जप, ध्यान, समाधितक भी) अपने लिये नहीं, अपितु दूसरोंके हितके लिये ही करे; क्योंकि जिनसे सब कर्म किये जाते हैं, वे स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों ही शरीर संसारके हैं, अपने नहीं ।

अन्वय—

पार्थ, मे, त्रिषु, लोकेषु, न, किंचन, कर्तव्यम्, अस्ति, च, न, अवाप्तव्यम्, अनवाप्तम्, कर्मणि, एव, वर्ते ॥ २२ ॥

पद-व्याख्या—

पार्थ—हे अर्जुन !

जब अर्जुनके प्रति एकान्तमें कहनेयोग्य कोई रहस्यकी बात कहनी होती है, तब भगवान् अर्जुनको 'पार्थ' नामसे सम्बोधित करते हैं ।

मे त्रिषु लोकेषु न किंचन कर्तव्यम् अस्ति च न अवाप्तव्यम् अनवाप्तम्—मुझे तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है ।

भगवान् किसी एक लोकमें सीमित नहीं हैं । इसलिये वे तीनों लोकोंमें अपना कोई कर्तव्य न होनेकी बात कह रहे हैं ।

भगवान्‌के लिये त्रिलोकीमें कोई भी कर्तव्य नहीं है; क्योंकि उनके लिये कुछ भी पाना शेष नहीं है । कुछ-न-कुछ पानेके लिये ही सब (मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि) कर्म करते हैं । भगवान् उपर्युक्त पदोंमें बहुत विलक्षण बात कह रहे हैं कि कुछ भी करना और पाना शेष न होनेपर भी मैं कर्म करता हूँ !

कर्मयोगी शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ इत्यादि सम्पूर्ण सामग्रीको (जो वास्तवमें संसारकी ही है) संसारकी ही मानता है और उसे संसारकी सेवामें लगाता है । यदि मनुष्य संसारकी वस्तुको संसारकी सेवामें न लगाकर अपने सुखभोगमें लगाता है, तो बहुत बड़ी भूल करता है । संसारकी वस्तुको अपनी

मान लेनेसे ही फलकी इच्छा होती है और फल-प्राप्तिके लिये कर्म होता है । इस प्रकार जबतक मनुष्य कुछ पानेकी इच्छासे कर्म करता है, तबतक उसके लिये कर्तव्य रहता है अर्थात् उसके लिये 'करना' शेष रहता है ।

गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि मनुष्यमात्रका अपने लिये कोई कर्तव्य है ही नहीं; क्योंकि प्रापणीय वस्तु (परमात्मा) नित्यप्राप्त है और स्वयं (स्वरूप) भी नित्य है, जबकि कर्म और कर्म-फल अनित्य अर्थात् उत्पन्न एवं नष्ट होनेवाला है । अनित्य-(कर्म और फल-)का सम्बन्ध नित्य (स्वयं)के साथ हो ही कैसे सकता है ! कर्मका सम्बन्ध 'पर'-(शरीर और संसार-) से ही है, 'स्व' से नहीं । कर्म सदैव 'पर'के द्वारा और 'पर'के लिये ही होता है । इसलिये अपने लिये कुछ करना है ही नहीं । जब मनुष्यमात्रके लिये कोई कर्तव्य नहीं है, तब भगवान्‌के लिये कोई कर्तव्य हो ही कैसे सकता है !

कर्मयोगसे सिद्ध हुए महापुरुषके लिये भगवान्‌ने इसी अध्यायके सत्रहवें-अठारहवें श्लोकोंमें कहा है कि उस महापुरुषके लिये कोई कर्तव्य नहीं है; क्योंकि उसकी रति, तृप्ति और सन्तुष्टि अपने-आपमें ही होती है । इसलिये उसे संसारमें करने अथवा न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं रहता तथा उसका किसी भी प्राणीसे किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता । ऐसा होनेपर भी वह महापुरुष लोकसंग्रहार्थ कर्म करता है । इसी प्रकार यहाँ भगवान् अपने लिये कहते हैं कि कोई भी कर्तव्य न होने तथा कुछ भी पाना शेष न होनेपर भी मैं लोकसंग्रहार्थ कर्म करता हूँ । तात्पर्य यह कि तत्त्वज्ञ महापुरुषकी भगवान्‌के साथ एकता होती है— **'मम साधर्म्यमागताः'** (गीता १४।२) । जैसे भगवान् त्रिलोकीमें आदर्श पुरुष हैं (गीता ३ । २३, ४ । ११), वैसे ही संसारमें तत्त्वज्ञ पुरुष भी आदर्श हैं (गीता ३।२१) ।

कर्मणि एव वर्ते—(तो भी मैं लोकसंग्रहके लिये) कर्म ही करता हूँ ।

'एव' पदसे भगवान्‌का तात्पर्य है कि मैं उत्साह एवं तत्परतासे, आलस्यरहित होकर, सावधानीपूर्वक, साङ्गोपाङ्ग कर्तव्य-कर्मोंको करता हूँ । कर्मोंका न त्याग करता हूँ, न उपेक्षा ।

जैसे इंजनके पहियोंके चलनेसे इंजनसे जुड़े हुए डब्बे भी चलते रहते हैं, वैसे ही भगवान् और सन्त-महापुरुष (जिनमें करने और पानेकी इच्छा नहीं है) इंजनके समान कर्त्तव्य-कर्म करते हैं, जिससे अन्य मनुष्य भी उन्हींका अनुसरण करते हैं । अन्य मनुष्योंमें करने और पानेकी इच्छा रहती है । ये इच्छाएँ निष्काम-भावपूर्वक कर्त्तव्य-कर्म करनेसे ही दूर होती हैं । यदि भगवान् और सन्त-महापुरुष कर्त्तव्य-कर्म न करें तो अन्य मनुष्य भी कर्त्तव्य-कर्म नहीं करेंगे । फिर उन मनुष्योंकी इच्छाएँ कैसे मिटेंगी । इसलिये सब मनुष्योंके हितके लिये भगवान् और सन्त-महापुरुषोंके द्वारा स्वाभाविक ही कर्त्तव्य-कर्म होते हैं ।

भगवान् सदैव कर्त्तव्यपरायण रहते हैं, कभी कर्तव्यच्युत नहीं होते । अतएव भगवत्परायण साधकको भी कभी कर्त्तव्यच्युत नहीं होना चाहिये । कर्त्तव्यच्युत होनेसे ही वह भगवत्तत्त्वके अनुभवसे वञ्चित रहता है । सदैव कर्त्तव्यपरायण रहनेसे साधकको भगवत्तत्त्वका अनुभव सुगमतापूर्वक हो सकता है ।

प्रत्येक साधकके लिये संसार केवल कर्त्तव्यपालनका क्षेत्र है, सुखी-दुःखी होनेका क्षेत्र नहीं । संसार सेवाके लिये है । संसारमें साधकको सेवा-ही-सेवा करनी है । सेवा करनेमें सबसे पहले साधकका यह भाव होना चाहिये कि मेरे द्वारा किसीका किंचिन्मात्र भी अहित न हो ।

*

संसारमें कुछ प्राणी सुखी रहते हैं और कुछ प्राणी दुःखी रहते हैं। इसलिये साधकको चाहिये कि वह सुखी प्राणियोंको देखकर प्रसन्न हो जाय अर्थात् उसमें मैत्री-भाव उत्पन्न हो जाय, और दुःखी प्राणियोंको देखकर दुःखी हो जाय अर्थात् उसमें करुण-भाव उत्पन्न हो जाय। यह उन प्राणियोंकी सेवा है। मैत्री-भाव होनेसे 'भोग'की इच्छा नष्ट हो जाती है तथा करुण-भाव होनेसे 'संग्रह'की इच्छा नष्ट हो जाती है और साधक अपने कहलानेवाले पदार्थोंको दुःखी प्राणियोंकी सेवामें लगा देता है। इस प्रकार साधककी भोग और संग्रहकी इच्छा, जो भगवत्प्राप्तिमें मुख्य बाधा है, सुगमतापूर्वक दूर हो जाती है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने भी संतोंके लक्षणोंमें उपर्युक्त बातका उल्लेख किया है—

'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर' (मानस ७। ३७। १)

सेवा करनेका अर्थ है—सुख पहुँचाना। साधकका भाव **'मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्'**-(किसीको किञ्चिन्मात्र भी दुःख न हो-) का होनेसे वह वस्तुतः सभीको सुख पहुँचाता है अर्थात् सभीकी सेवा करता है। साधक भले ही सबको सुखी न कर सके, पर वह ऐसा भाव तो बना ही सकता है। भाव बनानेमें सब स्वाधीन हैं, कोई पराधीन नहीं। इसलिये सेवा करनेमें सम्पत्तिकी आवश्यकता नहीं है; अपितु सेवा-भावकी ही आवश्यकता है। क्रिया और पदार्थ चाहे जितने हों, सीमित ही होते हैं; पर भाव असीम होता है। इसलिये क्रिया और पदार्थसे सीमित सेवा एवं भावसे असीम सेवा होती है।

यद्यपि साधकके कर्तव्यपालनका क्षेत्र सीमित ही होता है, तथापि उसमें जिन-जिनसे उसका व्यवहार होता है, उनमें वह सुखीको देखकर सुखी एवं दुःखीको देखकर दुःखी होता है। पदार्थ, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि इत्यादिको जो अपना नहीं मानता, वही दूसरोंके सुखमें सुखी एवं दुःखमें दुःखी होता है। शरीरादि समस्त पदार्थोंको अपना न माननेसे अर्थात् अपने सर्वस्वका त्याग कर देनेसे जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होकर तत्त्वका अनुभव हो जाता है।

प्रकृति, संसार, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि अपने और अपने लिये हैं ही नहीं—यह वास्तविकता है। देश, काल, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य इत्यादि कुछ भी व्यक्तिगत नहीं है। इन पदार्थोंमें भूलसे माने हुए अपनापनका त्याग प्रत्येक मनुष्य कर सकता है, चाहे वह दरिद्र-से-दरिद्र हो अथवा धनी-से-धनी; पढ़ा-लिखा हो अथवा अनपढ़। इस त्यागमें सब-के-सब स्वाधीन हैं। ऐसा त्याग करनेपर फिर कुछ कर्तव्य और प्राप्तव्य शेष नहीं रहता। (क्रमशः)

कर्मयोगीका कर्म

कर्मका स्वभाव फलोन्मुखी है; किंतु फलाकांक्षासे रहित होकर भी कर्मयोगी कर्म करता है। सिद्धान्ततः उसकी कर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये; क्योंकि बिना प्रयोजन अज्ञ भी कर्ममें प्रवृत्त नहीं होता—*'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते।'* पर योगीकी कर्मयुक्तता ही विशेषता है; यह कैसे? इसके उत्तरमें तीन बातें कही जा सकती हैं। (१) कर्त्तव्य-निष्ठा (२) भगवत्प्रीति और (३) लोक-संग्रह। यदि यह कहा जाय कि ये भी तो उद्देश्य हैं, 'फल' हैं तो इष्टापत्ति कर लेनी होगी और तब कहना होगा कि इन स्थलोंमें कर्म बन्धन-कारक न होनेसे प्रायः 'निष्कर्म' हो जाते हैं; जैसे विष-दन्त तोड़ देनेपर विषधर भी निर्विष हो जाता है। इसी तत्त्वपर कर्मयोगका 'नैष्कर्म्य' प्रतिपादित है और वही कर्मयोगीका वास्तविक लक्ष्य है।

कृष्णभक्त श्रीलीलाशुकका ज्योतिदर्शन

(लेखक—प्रो० श्रीरञ्जनसूरिदेवजी)

भक्ति-साहित्यमें श्रीकृष्णके प्रति उत्पन्न होनेवाली 'रति'को 'पूर्वराग' कहा गया है। पूर्वरागकी अवस्थामें साधक भक्तका भगवान्‌से अनन्य प्रेम हो जाता है और उसके मनमें भगवद्दर्शनके लिये तीव्र उत्कण्ठा एवं व्याकुलता बनी रहती है तथा उनमें कृष्ण-साक्षात्कारकी योग्यता भी होती है। इस अवस्थाके साधकके दृष्टान्तरूपमें लीलाशुकको उपस्थित किया जा सकता है। लीलाशुकका ही अपर नाम विल्वमङ्गल है।[1] 'श्रीहरिभक्ति-रसामृतसिन्धु'में साधककी परिभाषाके प्रसङ्गमें श्रीरूपगोस्वामीने स्पष्टतया विल्वमङ्गलको ही उदाहृत किया है—

कृष्णसाक्षात्कृतो योग्याः साधका इति कीर्तिताः।
विल्वमङ्गलतुल्या ये साधकास्ते प्रकीर्त्तिताः॥
(दक्षिणविभाग १। १०५)

लीलाशुक श्रीकृष्णकी सखी-भावसे उपासना करनेवाले परम साधक भक्त थे। गवेषक विद्वान् लीलाशुकको तामिल या तेलुगु-भाषी मानते हैं। इस मान्यताका मूल आधार लीलाशुककी प्रसिद्ध कृष्णस्तुति-विषयक सुन्दर कृति 'श्रीकृष्णकर्णामृतम्'का तेलुगु भाषामें **'वेंगाग्रणी'** नामसे प्रकाशित पद्यानुवाद है। यह अनूदित कृति आन्ध्रमें 'श्रीकृष्णकर्णामृतम्'की लोकप्रियताका परिचय देती है। लीलाशुकके जीवनके विषयमें अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। इनमें चिन्तामणि नामकी वेश्याके प्रति उनके प्रगाढ़ प्रेमकी कथा तो लोकविख्यात है। चिन्तामणिके प्रति उनकी इतनी अधिक अनुरक्ति थी कि उन्होंने 'श्रीकृष्णकर्णामृतम्'के मङ्गलश्लोकको उसके नामसे ही प्रारम्भ किया है, जो इस प्रकार है—

चिन्तामणिर्जयति सोमगिरिर्गुरुर्मे
शिक्षागुरुश्च भगवान् शिखिपिच्छमौलिः।
यत्पादकल्पतरुपल्लवशेखरेषु
लीलास्वयंवररसं लभते जयश्रीः॥
(श्लोक १)

यहाँ 'चिन्तामणि' शब्द यद्यपि श्लेषार्थक है तथा अनेक व्याख्याताओंने उसे सोमगिरिका ही विशेषण माना है, तथापि कुछ टीकाकारोंके अनुसार यह उनकी उक्त नामकी वेश्याके साथ रागात्मक सम्बन्धको संकेतित करता है, हालाँकि उनका वेश्याप्रेम इश्कमिजाजीसे इश्कहकीकी और फिर उदात्तीकृत हो गया था। उक्त मङ्गलश्लोकका अर्थ उपस्थापित करते हुए, उक्त कृतिके एक अनुवादक तथा व्याख्याकार डॉ० रसिक-विहारी जोशीने स्पष्ट किया है कि लीलाशुक श्रीविल्वमङ्गल यहाँ एक साथ तीन गुरुओंका स्मरण करते हैं—'मेरी गुरु चिन्तामणि नामकी स्त्रीकी जय हो, दीक्षागुरु सोमगिरिकी जय हो और शिक्षागुरु मयूरपिच्छधारी भगवान् श्रीकृष्ण-की जय हो।'

इस प्रसङ्गमें यह कथा स्मरणीय है कि चिन्तामणि गणिकाके प्रेममें लीलाशुक इतने डूब गये थे कि वे एक बार भयंकर मूसलाधार वर्षामें उमड़ती नदीको पारकर उक्त वेश्याके घर पहुँचे। घरका दरवाजा बंद था तो भी दीवारसे लटकते एक अजगरको रस्सी समझकर वे उसके सहारे उस वेश्याके घर चले गये। चिन्तामणिको लीलाशुकका यह आचरण अखर गया। वह उनकी तीव्र भर्त्सना करने लगी। चिन्तामणिके व्यङ्ग्य-प्रहारसे उनके मोहान्धकारका नाश हो गया। उन्हें संसारसे विरक्ति हो गयी। फलतः उनकी अनुरक्ति भगवच्चरणारविन्दमें एकान्त-भावसे बद्धमूल हो गयी। उनकी भक्ति तादात्मिकतासे आत्यन्तिकता (लयात्मिकता)की ओर मुड़ गयी। कहते हैं, इसी असत्‌से सत्की ओर प्रेरित करनेवाली चिन्तामणि

१. द्रष्टव्य थियोडार आफ्रेक्टकृत Catalogus Catalogorum

नामकी वेश्याको गुरु मानकर उसके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करनेके लिये लीलाशुकने उसकी वन्दना की है।

किंवदन्तियोंकी प्रामाणिकतामें संदेह होना स्वाभाविक है; क्योंकि मूलग्रन्थसे यह सूचना अवश्य मिलती है कि लीलाशुकके गुरुका नाम 'सोमगिरि' था और 'ईशानदेव' भी उनके गुरु थे। इन संन्यासियोंकी पङ्क्तिमें तथा उनसे भी पहले कोई भारतीय विद्वान् या बुद्धिमान् साधक कैसे वेश्याका नाम रखेगा? हाँ, उनकी माताका नाम 'नीवी' तथा पिताका नाम 'दामोदर' था—यह श्रीकृष्ण-कर्णामृतके एक श्लोकमें संकेतित है—

ईशानदेवचरणाभरणेन नीवी-
दामोदरस्थिरयशःस्तवकोद्भवेन ।
लीलाशुकेन रचितं तव कृष्णदेव
कर्णामृतं वहतु कल्पशतान्तरेऽपि ॥
(श्लोक ११०)

लीलाशुकके जन्मके विषयमें भी निश्चितरूपसे कुछ प्रामाणिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी इतना निश्चित है कि वे केरलमें बारहवीं शतीमें वर्तमान थे। लीलाशुक-(बिल्वमङ्गल-)ने अपने इष्टदेव श्रीकृष्णकी वन्दना करते हुए वृन्दावनके यात्रा-क्रममें 'श्रीकृष्णकर्णामृत'की रचना की थी। भावभक्तिके आवेशमें भगवान् कृष्णके प्रति अप्राकृत काममें उन्मत्त लीलाशुककी सहज प्रेमभक्तिकी ही श्लोकबद्ध अभिव्यक्ति प्रस्तुत कृति है। वे बालमुकुन्द भगवान् श्रीकृष्णकी नीलज्योतिका अन्तर्दर्शन करते हुए कीर्तनमें विभोर हो चले जा रहे थे। उन्होंने जिस ज्योतिका दर्शन किया, वह उनके ही शब्दोंमें इस प्रकार है—

मधुरतरस्मितामृतविमुग्धमुखाम्बुरुहं-
मदशिखिपिच्छलाञ्छितमनोज्ञकचप्रचयम् ।
विषयविषामिषग्रसनगृध्नुनि चेतसि मे
विपुलविलोचनं किमपि धाम चकास्तु चिरम् ॥
(श्लोक ५)

'चिरकालतक वह अनिर्वचनीय ज्योति विषय-विषसे सम्पृक्त मेरे आमिषलोभी चित्तमें प्रकाशित होती रहे। इस ज्योतिर्मय पुरुषका मन्दस्मितिसे विकसित मुखारविन्द मधुरातिमधुर अमृतसे भी अधिक मनोहर है। यह ज्योतिःपुरुष मदयुक्त मयूरके पंखसे सज्जित मनोज्ञ कुन्तलोंसे मण्डित है और इसके लोचन बड़े विशाल हैं।'

लीलाशुकने महापुरुष कृष्णकी दिव्य ज्योतिको चिरप्रकाशित रखनेके लिये अपने चित्तको आधारस्थल बनाया है। किंतु एक ओर ज्योतिकी परम पवित्रता और शुचिता तथा दूसरी ओर चित्तकी जन्म-जन्मान्तरसे संचित अतिशय अपावनता और अशुचिताका विचार कर लीलाशुक कहते हैं कि "जिस प्रकार मछली मांसके लोभसे लोहेके काँटेको भी निगल जाती है, उसी प्रकार मेरा चित्त भी सांसारिक विषय-वासनाओंके प्रति इतना अधिक प्रलुब्ध है कि वह विषयके साथ मिश्रित विषको भी अज्ञानताकी स्थितिमें पीता रहता है। फिर भी, उनकी कामना है कि जन्म-जन्मान्तरसे विषयासक्त चित्तमें यह दिव्य ज्योति चिरकालतक प्रकाशित होती रहे—**'चिरं चकास्तु।'**" वैष्णवग्रन्थोंके अनुसार यहाँ यह संकेतित है कि भक्त यदि अनन्य शरणागतिकी भावनाके साथ भगवान्‌की कृपाके प्रति एकान्त विश्वास करनेमें समर्थ होता है तो उसकी चित्तभूमिकी अशुद्धताके बावजूद उसे भगवत्-साक्षात्कार या ज्योतिर्दर्शन हो सकता है। लीलाशुकके अन्तर्मनमें किसी तरल ज्योतिका अनुसंधान-कार्य चल रहा है। इसीलिये वे नवनवायमान सौन्दर्य-माधुरीसे स्फुरित—छलकती—फैलती श्रीकृष्णकी महामहिम ज्योतिकी प्रार्थना करते हैं—

हृदये मम हृदयविभ्रमाणं हृदयं हर्षविशाललोलनेत्रम्।
तरुणं व्रजबालसुन्दरीणां तरलं किं च धाम संनिधत्ताम्॥
(श्लोक ११)

'मेरे हृदयमें कोई वह तरल ज्योति निवास करे, जो मनोहर हाव-भाव आदि विभ्रमोंकी केन्द्रभूमि (हृदय) है, हर्षोत्फुल्ल विशाल चञ्चल नेत्रोंसे रमणीय है और व्रजकी सुन्दरी बालाओंके लिये तरुण है।'

यहाँ लीलाशुक अपनी अभीप्सित ज्योतिको किसी विशिष्ट नामसे निर्दिष्ट नहीं करते; क्योंकि वह तो अनिर्वचनीय तथा अतिशय रहस्यमयी है। जो समस्त उपनिषदोंसे भी गूढ़ है, भला उसका नामग्रहण कैसे हो सकता है ? इसीलिये व्याख्याताओंने कहा है—**'अतिरहस्यत्वात् सर्वोपनिषदादिनिगूढत्वाद् वा तन्नामाग्रहणम्।'**

कृष्ण-विग्रहमें आविर्भूत यह ज्योति इतनी अधिक तरल और चञ्चल है कि शतकोटियूथ गोपियोंके मण्डलमें विद्युद्गतिसे प्रकट होकर सबकी कामनाओंको एक समयमें पूर्ण करती हुई अलौकिक तथा अप्राकृत रसदान-द्वारा आनन्दित करती है। यह ज्योति नित्यकिशोर होते हुए भी यौवन-विलाससे सातिशय प्रगल्भ (प्रौढ़) है। इसीलिये इसे विलास-विभ्रमका केन्द्र माना गया है। यह सम्पूर्ण रसमय विलासोंका बीजस्वरूप है। इसीलिये इसे भागवतादि ग्रन्थोंमें 'कामावताराङ्कुर' तथा 'श्रृङ्गार-रससर्वस्व' तक कहा गया है। साकार ज्योतिके दर्शनके इच्छुक लीलाशुक अपनी श्रीकृष्णकर्णामृत कृतिमें अपने इष्टदेवकी प्रार्थनामें कहते हैं—

बर्होत्तंसविलासकुन्तलभरं माधुर्यमग्नाननं
प्रोन्मीलन्नवयौवनं प्रविलसद्वेणुप्रणादामृतम्।
आपीनस्तनकुड्मलाभिरभितो गोपीभिराराधितं
ज्योतिश्चेतसि नश्चकास्तु जगतामेकाभिरामाद्भुतम्॥
(श्लोक-सं० ४)

'त्रिभुवनमें एकान्त अभिराम एवं अद्भुत ज्योति मेरे चित्तमें प्रकाशित हो। यह ज्योति मयूरपंखके मुकुटसे शोभित कुन्तल-भारसे भासमान है। इस ज्योतिका मुख माधुरीमें आमग्न है। यह विकसित अभिनव यौवनसे परिदीप्त है। यह वेणुनादके अमृतकी झरीसे प्रोद्भासित है और प्रेम-प्रवण भावुकतावाली गोपकिशोरियोंद्वारा समाराधित है।'

रासविलासके क्षणोंमें श्रीकृष्णके विग्रहसे निकलनेवाली नीलज्योति तथा गोपियोंके विग्रहसे छिटकनेवाली शुभ्रज्योति दोनों मिलकर विशाल ज्योतिर्मण्डल बन गयी थी। (यहाँ स्मरणीय है कि साधन-मार्गमें जब किसी साधक भक्तको सर्वप्रथम निर्विशेष ब्रह्मका साक्षात्कार होता है, जहाँ किसी भी प्रकारके आकारविशेषका बोध नहीं होता, केवल दूरसे प्रकाशपुञ्ज दृष्टिगोचर होता है, उसीको ज्योतिर्दर्शन कहते हैं। जब इस ज्योतिके गर्भमें अपने इष्टदेवके आकार या स्वरूप-विशेषका बोध होने लगता है, तब वह सविशेष ब्रह्मका साक्षात्कार कहलाता है।) लीलाशुक जिस ज्योतिके दर्शनकी कामना करते हैं, वह अद्वैतवेदान्तमें प्रतिपाद्य निर्गुण निराकार निर्विशेष ब्रह्मापरपर्याय 'ज्योति' नहीं, अपितु रासमण्डलमें अनन्त गोपियोंसे घिरे अद्वयज्ञानस्वरूप सगुण साकार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रसे प्रतिच्छुरित (प्रकाशित या प्रतिबिम्बित) ज्योति है। श्रीकृष्णरूप-ज्योति इतनी सुन्दर है कि वह त्रिभुवनमोहिनी बनी हुई है।

साक्षात्कारकी प्रक्रियामें निर्विशेष तथा सविशेषका दर्शन आनुक्रमिक होता है। इस प्रकारका वर्णन माघने 'शिशुपालवध' काव्यमें नारदजीके आकाशसे अवतरणके दृश्यका चित्रण करते हुए किया है—

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा
ततः शरीरीतिविभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति
क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥
(शिशुपालवध १। ३)

एक दिन द्वारकामें श्रीकृष्णने आकाशमार्गसे उतरता हुआ एक तेजःपुञ्ज देखा। पहले तो यह निराकार प्रतीत हुआ, कुछ निकट आनेपर आकृतिविशेष प्रकट हुई तो किसी देहधारीका बोध हुआ। अपेक्षाकृत कुछ और निकट आनेपर नारदके आनेका ज्ञान हुआ। रूपगोस्वामीकी 'पद्यावली'में भी ज्योतिर्दर्शनके इसी क्रमका वर्णन मिलता है—

पुरो नीलज्योत्स्ना तदनुमृगनाभीपरिमल-
स्ततो लीलावेणुक्वणितमनु काञ्चीकलरवः ।
ततो विद्युल्लेखावलयितचमत्कारलहरी-
तरङ्गाल्लावण्यं तदनु सहजानन्द उदगात् ॥
(पद्य-सं० १६४)

'सर्वप्रथम नीली चन्द्रिका दिखायी पड़ी, फिर कस्तूरीकी सुगन्ध आयी, फिर मुरलीका स्वर श्रवणगोचर हुआ, फिर काञ्चीकी मधुर ध्वनि सुनायी पड़ी, पुनः विद्युल्लतासे वलयित चमत्कार-लहरी प्रकट हुई। उसके तरंगसे लावण्यका उदय हुआ, फिर तो सहज आनन्द ही प्रकट हो गया; अर्थात् परमानन्दघन श्रीकृष्णका साक्षात्कार हो गया।'

साक्षात्कारकी इसी क्रमिक प्रक्रियाका निर्देश लीलाशुकके कृष्णसाक्षात्कारमें भी क्रमशः ज्योतिदर्शन, मुखदर्शन और स्वरूपदर्शनके माध्यमसे उपलब्ध होता है। लीलाशुकके लौकिक दुःखतापको नष्ट करनेके लिये श्रीकृष्ण-ज्योतिका पहले हृदय तरल हुआ, फिर नेत्र तरल हुए, फिर सर्वाङ्ग ही उनके हृदयमें तरलायित हो उठा। इसी तरलित नीलज्योतिका साक्षात्कार करते हुए पूर्णकाम लीलाशुकका भी हृदय और नेत्र तरल हो उठे तथा श्रीकृष्णद्वारा कानोंके लिये अमृतरूप स्वीकृत उनकी रचना 'श्रीकृष्णकर्णामृत'के नामसे लोकमें समादृत हुई।

पश्य देवस्य काव्यम्—

कैसा सुन्दर काव्य प्रभूका !

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

पर्वत ! सरिता !! सागर !!!
प्रत्येककी अपनी निराली छटा !

हरीभरी वृक्षावलीसे सुसज्जित गिरि-कन्दराएँ कलकल-वाहिनी सरिताएँ, उनके संगम, अनन्ततक फैले सागरकी तटवर्ती पुण्यस्थलियाँ सदासे सन्तों, ऋषियों, महर्षियोंकी साधना-भूमि रही हैं। ऐसे ही पवित्र स्थलोंपर तो ऋषि, तत्त्वदर्शी, ज्ञानी, कवि, विप्र जन्म लेते आये हैं—

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत ॥ (ऋग्वेद ८। ६। २८, वाजस० २६। १५ साम० १४३)

और ऐसे पवित्र वातावरणमें जहाँ चारों ओर प्रकृति सुन्दरी अपनी सम्पूर्ण सुषुमा पसारे बैठी है—वन-पर्वत, सरिता-सागर, ऊषा-संध्या, ग्रीष्म-वर्षा, शरद्-वसन्तकी बहारें दिखा रही हैं; आकाशके तारे, धरतीके फूल चारों ओर अपनी चमक, अपना सौरभ, अपना निराला सौंदर्य प्रदर्शित कर रहे हैं, वहाँ जनमे और पनपे ऋषि बचपनसे ही उस सौंदर्यकी साधना आरम्भ कर देते हैं। उनका रोम-रोम पुकार उठता है—'अहा, कैसा सुन्दर काव्य प्रभूका, मोद और आनन्द भरा !'

जिधर दृष्टि हम डालें उसको अजर अमर ही पावें ॥
पश्य देवस्य काव्यम्। न ममार न जीर्यति ॥
(अथर्ववेद १०। ८। ३२)

देखो, आँख खोलकर देखो—प्रभूका यह काव्य—नित नूतन, अजर, अमर, सुन्दर! **क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति।**

आरण्यक संस्कृतिके जन्मदाता अरण्यकी गोदमें पलते-पनपते हैं। चारों ओर फैले अरण्यमें वे देखते हैं कि कहीं गौएँ चर रही हैं, कहीं बैल। कहींपर हरिण-हरिणियाँ किलोलें कर रहे हैं। नाना रंगरूपवाले पशु-पक्षी अरण्यकी शोभा बढ़ा रहे हैं। नाना प्रकारके शब्द, नाना प्रकारकी ध्वनियाँ उठ रही हैं, मानो वीणावादन हो रहा है और अरण्यानी देवीकी वन्दना की जा रही है। वेदका ऋषि गा रहा है—

वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः।
अधाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते ॥
(ऋग्वेद १०। १४६। २)

कैसी अद्भुत शोभा है, अरण्यकी !
हरे भरे सुन्दर अरण्यकी शोभाका है पार नहीं।

गौओं बैलों हरिणोंको, हम यत्र तत्र चरते पावें ॥
वृषभोंकी ही भाँति कोई रव करता है, कोई चींचीं ।
वीणाके स्वरमें मानो ये वनदेवीका यश गावें ॥

ऋषिकी अनुभूति मुखरित हो रही है—

उत गाव इवादन्त्युत वेश्मेव दृश्यते।
उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति ॥
(ऋग्वेद १० । १४६ । ३०)

कहीं गौएँ चर रही हैं। कहीं लता गुल्मोंके भवन बने हैं। सायंकालको कहीं चारा ढोनेवाले शकटोंकी-सी चरर-मरर ध्वनि सुनायी पड़ती है—

'चूँ चररमरर चूँ चररमरर चल पड़ी कहाँ भैंसा गाड़ी।'

इतना ही नहीं—परा, पश्यन्ती, वैखरी ही नहीं,—अरण्यानीदेवीका सौरभ भी हृदयको मुग्ध किये दे रहा है—

आ जन गन्धि सुरभिं बह्वन्नाम कृषीवलाम्।
प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम् ॥
(ऋग्वेद १० । १४६ । ६)

तेरी हम वन्दना करते हैं अरण्यानीदेवि !

मृगनाभी-सा सौरभ फैला वन देवीका चारों ओर।
हरिणोंकी इस मातृरूपिणी देवी पर हम बलि जावें ॥

× × × ×

प्रभुका यह काव्य क्या केवल वनश्रीतक ही सीमित है ? जी नहीं।

प्रातःसे सायंतक चारों ओर आठ पहर चौंसठ घड़ी सौंदर्य ही तो नाना रूपोंमें यत्र-तत्र-सर्वत्र लहराता चल रहा है। उसकी एक-से-एक अनुपम झाँकियाँ नेत्रोंके समक्ष आती रहती हैं।

द्यौकी बेटी परम सुन्दरी ऊषा रानी विभावरीपर तो ऋषि लट्टू हैं। अनेकानेक ऋचाएँ उपनीतकर न्यौछावर कर डाली हैं, उसकी प्रशस्तिमें।

परम प्रेरिका प्राणदायिनी उषाके सौंदर्यकी प्रशंसा करते हुए ऋषि कहते हैं—

आ घा योषेव सूनर्युषा याति प्रभुञ्जती।
जरयन्ती वृजनं पद्वदीयत उत्पातयति पक्षिणः ॥
(ऋग्वेद १ । ४८ । ५)

'उषा सुन्दरी युवतीकी भाँति आती है, सबको आनन्दित करती हुई सारे प्राणिजगत्को वह जगाती है। मनुष्योंको वह कामपर भेजती है और पक्षियोंको गगनमें विहार करनेकी प्रेरणा देती है।'

विश्वस्य हि प्राणनं जीवनं त्वे वि यदुच्छसि सूनरि।
सा नो रथेन बृहता विभावरि श्रुधि चित्रामघे हवम्॥
(ऋग्वेद १ । ४८ । १०)

'हे प्रकाशवती सुन्दरि उषे ! हे विभावरि ! समस्त प्राणियोंका प्राण और जीवन तुझमें ही बसता है। बड़े रथपर विराजमान उषे ! तू विचित्र धनवाली है। तू हमारी पुकार सुन।'

उषा और रजनीको लेकर कैसा सुन्दर रूपक खड़ा करता है ऋषि—

रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः।
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने॥
(ऋग्वेद १ । ११३ । २)

कहता है वह—

श्वेत वस्त्र धारिणि ऊषे औ कृष्ण वस्त्र पहने रजनी।
एक दूसरीको उछालते बाल सूर्यको हम पावें॥

श्वेतवसना उषा और कृष्णवसना रजनीके बीचमें है प्रकाशमान बाल रवि। उसे मानो दुलारती हुई दो माताएँ एक दूसरीकी ओर उछाल रही हैं। रात्रि उषाकी ओर, उषा रात्रिकी ओर !' कैसी है छटा उत्प्रेक्षा की !

उषाकी वन्दना करते हुए ऋषि उससे वरदान माँगता है—

विश्वमस्या नानाम चक्षसे जगज्ज्योतिष्कृणोति सूनरी।
अप द्वेषो मघोनी दुहिता दिव ऊषा उच्छदप स्रिधः ॥
(ऋग्वेद १ । ४८ । ८)

'सारा विश्व, सारा प्राणिजगत् लालायित रहता है उषा सुन्दरीके दर्शनके लिये, सभी उसे प्रणाम करते हैं। उषा प्रकाशकी निर्मातृदेवी तो है ही, अपा

वैभवशालिनी भी है। द्यौः (अन्तरीक्ष–) की, आकाशकी यह पुत्री हमसे द्वेष करनेवाले लोगोंको हमसे दूर कर दे।'

ऊषा देवीको प्रणाम कर यही माँगते हम वरदान।
घृणा द्वेष करनेवालोंसे हम सब जन मुक्ती पावें॥

× × ×

प्रकृतिके अद्भुत सौन्दर्यपर मुग्ध होनेवाले ऋषियोंकी सौन्दर्य-साधनाकी इस प्रवृत्तिको देखकर दार्शनिक-प्रवर डाक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् कहते हैं—

'वैदिक सूक्तोंके प्राचीनतम ऋषि प्राकृतिक दृश्योंको देखकर अपने सरल स्वभावके कारण अनायास ही अत्यन्त प्रफुल्लित हो उठते थे। विशेषकर कवि-स्वभाव होनेके कारण उन्होंने प्राकृतिक पदार्थोंको ऐसे प्रगाढ़ मनोभावों और कल्पनाशक्तिद्वारा देखा कि उन्हें वे आत्माकी भावनासे परिपूर्ण प्रतीत होने लगे। वे प्रकृति-प्रेमसे अभिज्ञ थे और इसलिये सूर्योदय और सूर्यास्तके अद्भुत दृश्योंमें खो गये; क्योंकि ये दोनों ही रहस्यमयी घटनाएँ हैं, जो आत्माको प्रकृतिके साथ जोड़ देती हैं। उनके लिये प्रकृति एक जीवित सत्ता थी, जिसके साथ वे प्रेम-सम्बन्ध जोड़ सकते थे।'[1]

वेदके गहन अभ्यासी डॉक्टर सी० कन्हनराजा वैदिक ऋषियोंकी सौन्दर्य-साधनाके अनेकानेक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए इसी निष्कर्षपर आते हैं[2] कि 'उन्होंने (वैदिक ऋषियोंने) सौन्दर्यका आविष्कार किया। उन्होंने सौन्दर्यकी सृष्टि की। वे सौन्दर्यके प्रेमी थे और कला तथा सौन्दर्यमय जगत्में सौन्दर्यमय जीवन जीते थे।'[3] और इसी सौन्दर्यपर मुग्ध होकर वैदिक ऋषि कहते थे—

'पश्य देवस्य काव्यम्।'

अनिष्टसे बचनेका उपाय

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

चीनके दार्शनिक लिन युटांगने अपनी लोकप्रिय पुस्तक 'जीनेका महत्त्व'—(The Importance of Living)में एक स्थानपर बड़ी महत्त्वपूर्ण बात बतायी है। वे लिखते हैं,—'जीवनमें आये हुए अनिष्टको जितनी जल्दी अपने गुप्त मनद्वारा स्वीकार करा लें, उतनी ही शीघ्रता और पूर्णतासे मनको शान्ति प्राप्त होगी। हम परेशान इसलिये रहते हैं कि विपत्तिको गुप्त मन जल्दी स्वीकार नहीं करता। अतः जितनी जल्दी हो, बदली हुई विषम स्थिति और अपने गुप्त मनमें तालमेल बैठा लें, तो अनिष्टका असर शरीरपर न होगा।'

और स्पष्ट शब्दोंमें हम यों समझें कि अपनी विषम-स्थितिको—जैसी है वैसी ही स्वेच्छासे (गुप्त मनद्वारा) स्वीकार कर लें; क्योंकि जो भवितव्यता है (जैसे मृत्यु, बीमारी, वियोग, हानि, मुकदमा, खिन्नता, अपमान, असफलता, रोग, शोक इत्यादि) वह तो मानव-जीवनमें साधारणतः होकर ही रहेगी। अपने आपसे पूछिये कि अनिष्टकी विषम परिस्थितिमें सबसे ज्यादा क्या नुकसान हो सकता है? कहाँ और क्या हानि होनेकी सम्भावना है? यदि उस अनिष्टको दूर किया जा सकता है तो उसके क्या तरीके हो सकते हैं? उन सभी उपायोंको काममें लेकर अनिष्टसे बचनेका भरसक प्रयत्न कीजिये। इतनेपर भी यदि अन्य कोई उपाय शेष न रह जाय तो अपनी विवेक-बुद्धिद्वारा गुप्त मनको बार-बार समझाइये कि वह उस विषम स्थितिको स्वीकार कर ले अर्थात् तालमेल बैठा ले। फिर धैर्यपूर्वक उस अनिष्टको सुधारनेके लिये आगे बढ़ चलिये। यह एक

१—डॉ० राधाकृष्णन्—भारतीयदर्शन, प्रथमखण्ड, पृष्ठ ६५। २—सी० कन्हनराजा—वेदाज १९५७, पृष्ठ १९०

3—They found beauty, they created beauty, they loved beautyand they lived a life of beauty in a world and in an environment of art and beauty.

मनोवैज्ञानिक उपाय है, जिससे उद्वेगों, निराशा या शोकके तूफानका सामना किया जा सकता है ।

कठिनाई यह है कि भावुक और अनस्थिर प्रकृतिके व्यक्ति—विशेषत: महिलाएँ कटु अनिष्टकारी परिस्थितियोंमें अपने गुप्त मनका तालमेल नहीं बैठा पातीं । भय, घृणा, प्रतिशोध, उत्तेजना, निराशा, वासना-जैसे दुष्ट मनोविकार बड़ी तेजीसे उनपर हावी हो जाते हैं । अनेक कमजोर मनोवृत्तिवाले भावुक या कायर लोग इन उत्पाती मनोविकारोंके तेज बहावमें आकर मार-पीट, हिंसा, आत्महत्या इत्यादि पापके कार्यतक कर डालते हैं । उनका गुप्त मन अनिष्टको स्वीकार नहीं कर पाता—यही उनकी मानसिक कमजोरी है ।

याद रखिये, विनाशकारी मनोवेगोंको अपने विवेक-बुद्धिपर हावी होने देकर हम अपने मन और शरीर—दोनोंका बड़ा अहित करते हैं । एक भी दुष्ट मनोविकार यदि आपपर चढ़ बैठे तो मूल्यवान् जीवनका अन्त कर सकता है ।

कुछ उदाहरण लीजिये । भगवान् श्रीरामके वनवासके दु:खद प्रसङ्गसे उनके पिता दशरथजीको अत्यधिक वेदना हुई । शोक, वियोग, नैराश्य, ममता, क्षोभके तूफानने उनका जीवन ही समाप्त कर दिया; क्योंकि इस दु:खको उनका गुप्त मन स्वीकार न कर सका । दूसरी ओर माता कौसल्याने पुत्र-वियोगके अनिष्टकारी मनोवेगको अपने ऊपर हावी नहीं होने दिया । उस कष्टदायक परिस्थितिसे उनके गुप्त मनने तालमेल बैठा लिया और अपने जीवन और मानसिक संतुलनको सम्हाले रहीं । पुत्र-वियोगमें कठोर समझा जानेवाला पुरुष तो मर गया, किंतु ममतामयी नारीने, जिस अनिष्टको वह बदल नहीं सकती थी, सहन कर लिया ! उसके गुप्त मनने तालमेल बैठा लिया । यह है अनिष्टको गुप्त मनद्वारा स्वीकार करना और उसका वेग निकल जाने देना । जो वस्तु अप्राप्य है, पहुँचसे परे है, उसकी अभिलाषा करना मूर्खता है—मृगजलके पीछे दौड़ने-जैसा व्यर्थ प्रयास है ।

पाण्डवोंका वनवास कठिनतम संघर्षकी सीमा थी । राजा नल, सत्यवादी हरिश्चन्द्र-जैसे अनेकानेक महापुरुषोंने हृदयकी धैर्यशक्तिसे जीवन-ज्योति प्रज्ज्वलित रखी थी । धर्मपर कुर्बानी करनेवाले सिक्ख-गुरु, भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राममें होनेवाले अनेक शहीद सुख-दु:ख, संघर्ष, आपदाएँ गुप्त मनद्वारा स्वीकारकर ही अनिष्टको पराजित कर सके थे । मानव-जीवन अमूल्य है । सूर्यको बादल ढक सकते हैं, किंतु उनके प्रकाशको नहीं निगल सकते । जीवनकी हर दृष्टिसे रक्षा कीजिये ।

आधुनिक राजनीतिक, सामाजिक, पारिवारिक और व्यापारिक जीवनमें सैकड़ों ऐसे ही पीड़ादायक दु:खद प्रसङ्ग आते हैं, जिन्हें गुप्त मनद्वारा स्वीकार कराये जानेसे ही वेग कम किया जा सकता है । इसी प्रकार शारीरिक बीमारी, ऑपरेशन या असाध्य रोगोंके कटु प्रसङ्गोंको धैर्यपूर्वक सहन करनेसे ही जीवन-रक्षा हो सकती है ।

लेकिन शोक, निराशा, भय, चिन्ता इत्यादिसे रक्षा करनेवाली हमारी विवेक-बुद्धि ही है । यह हमें बताती है कि किसे हम उद्योगसे बदल सकते हैं, किस सीमातक परिवर्तन कर सकते हैं और कौन हमारी ताकतसे बाहरकी बात है । विवेक-बुद्धिके सतर्क और जागते रहनेसे अनिष्ट दूर करनेकी ताकत प्राप्त होती है ।

भावुकताकी अनुभूति वैसे तो सभीमें थोड़ी-बहुत पायी जाती है, पर कुछ विशेष प्रकारके व्यक्तियोंमें इसकी मात्रा बढ़ जानेसे यह एक बड़ी कमजोरी बन जाती है और कभी-कभी तो असहायावस्थाकी अनुभूति उसे प्रतिपल पीड़ित किया करती है । इसीसे हीनता बढ़ती है और वह पग-पगपर आशङ्का, भय और अनावश्यक चिन्ताओंसे उद्विग्न रहता है ।

मृत्युको कोई बदल नहीं सकता । व्यापारमें हानि होना अनिवार्य है । विवाह असफल भी होते रहे हैं ।

पुत्र-पुत्री-वियोग, माता-पिता-पत्नीसे विछोह सम्भव है। परम मित्र झूठा निकल सकता है, साझे व्यापारमें साझीदार धोखा दे सकता है, असाध्य और जीर्ण रोगोंसे कितने ही ग्रसित रहते हैं और कभी भी किसीको कोई भी भयंकर रोग ग्रसित कर सकता है। राजनीतिके क्षेत्रमें छल-प्रपञ्च, धोखा-धड़ी सामान्य बात है। पारिवारिक स्नेह-बन्धन भी कभी-कभी टूट जाते हैं। नौकरी, रोजगार और खेती आदिमें गिरावट आ सकती है। शोक और चिन्तासे भला कौन बचा है? मृत्यु, रोग, हानि, शोक इत्यादिके उद्वेगको रोकनेके लिये अपने विवेक-बुद्धिको जाग्रत्कर अपने गुप्त मनमें यह तथ्य जमाइये कि जो बदला नहीं जा सकता, उससे हर सूरतमें तालमेल बैठाना ही ठीक होगा। निराश होनेसे कुछ न बनेगा। विवेक और समझदारी ही हमें वास्तविक कटुताओं और अनिष्टसे बचानेवाला सद्गुण है। अनिष्ट. सहन करना होगा, चाहे हँसकर करें अथवा रोकर।

हमारे संकट भी विवेकको जाग्रत् करनेके काम आने चाहिये। बुद्धिके प्रकाशमें क्षणिक भावुकता दूर हो जाती है, मोह-बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाता है। सुग्रीवने शोकमग्न श्रीरामसे जो सान्त्वनाभरे शब्द कहे थे, वे विवेकसे भरपूर आज भी हमें हिम्मत और धैर्य प्रदान करनेवाले हैं; देखिये—

बालिशस्तु नरो नित्यं वैक्लव्यं योऽनुवर्तते।
स मज्जत्यवशः शोके भाराक्रान्तेव नौर्जले॥
(वा० रा० ४। ७। १०)

'जो मूर्ख मनुष्य विपत्ति आनेपर व्याकुल हो जाता है, वह व्याकुलताके कारण विवश हुआ शोक-सागरमें वैसे ही डूब जाता है, जैसे अधिक भारसे दबी हुई नौका नदी या समुद्रके जलमें डूब जाती है।'

व्यसने वार्थकृच्छ्रे वा भये वा जीवितान्तगे।
विमृशंश्च स्वया बुद्ध्या धृतिमान् नावसीदति॥
(वा० रा० ४। ७। ९)

'हे राम! धैर्यशाली पुरुष शारीरिक कष्टके समय अथवा आर्थिक कठिनाईके आनेपर एवं अन्य किसी प्रकारके भय आनेपर जीवनके अन्त समयमें भी अपनी बुद्धिसे विचार करता हुआ कभी दुःखी नहीं होता।'

अनिर्वेदः श्रियो मूलमनिर्वेदः परं सुखम्।
अनिर्वेदो हि सततं सर्वार्थेष्वनुवर्तकः॥
(वा० रामायण)

'हताश न होकर उत्साहको हर हालतमें बनाये रखना ही ऐश्वर्यका मूल कारण है।' हृदयमें उत्साहकी विद्यमानतामें ही परम सुख है। आशा ही मनुष्यको सभी प्रकारकी क्रियाओंमें लगातार लगाये रखती है। आशावान् प्राणी जो भी प्रयत्न करता है वह उसमें अन्ततः सफलता पाता है। शोकानुवर्ती व्यक्ति कष्ट पाता है।

ये शोकमनुवर्तन्ते न तेषां विद्यते सुखम्।
तेजश्च क्षीयते तेषां न त्वं शोचितुमर्हसि॥
(वा० रा० ४। ७। १२)

(सुग्रीवने श्रीरामसे कहा—) 'जो व्यक्ति शोकमें ही लगे रहते हैं, उन्हें सुख कभी नहीं मिलता, उनका तेज क्षीण हो जाता है अतः आपको शोक नहीं करना चाहिये।'

जीवनमें जब कटु प्रसङ्ग—मृत्यु, हानि, वियोग इत्यादि आपत्तियाँ आयें तो अपने गुप्त मनको सिखलाइये कि—यह अन्धकार चिरस्थायी नहीं है। थोड़ी देर बाद स्वयं दूर होनेवाला है। यह तो केवल मेरे धैर्य और पौरुषकी परीक्षा कर रहा है। काल-चक्र सदा ही चलता रहता है। इसलिये चल उठ। हिम्मत बाँध और एक बार फिर हौसला कर आगे बढ़। ये दुर्दिन भी निकल जानेको हैं—'सबै दिन एक-से नहिं जात।'

कवि दिनकरके ये शब्द भी स्मरणीय हैं—

पोंछो अश्रु उठो, द्रुत जाओ, वन में नहीं, जीवन में।
होओ खड़े असंख्य नरों की आशा बन जीवन में॥
बुला रहा निष्काम कर्म वह बुला रही है गीता।
बुला रही है तुम्हें आर्त हो यही समर संगीता॥

भक्त-गाथा—

अनन्तका आश्रय

(लेखक—श्रीअनुपमजी भाटिया)

[संतोष तथा भगवद्विश्वासका फल]

पुराने समयकी बात है। किसी नगरमें सरल प्रकृतिके सात्त्विक एवं सदाचारी एक निर्धन ब्राह्मण रहते थे। जीवनमें कोई कृत्रिम आडम्बर नहीं था। परम्परासे उनके पूर्वज कथा-वाचकका कार्य करते आये थे। उसीसे परिवारका भरण-पोषण होता था। पिताके मरनेके बाद उस ब्राह्मणने भी यही कार्य अपनाया। कुछ समय पश्चात् ऐसा समय आया कि ब्राह्मणको कहीं भी कथावाचकका कार्य न मिला। परिवारके भूखों मरनेकी नौबत आ गयी। प्रायः ब्राह्मण सायंकाल रिक्तहस्त घर लौटने लगे। इस प्रकार जब उपवास करते दो दिन बीत गये, तब ब्राह्मणीने परामर्श दिया कि आप अपने राजाके यहाँ श्रीमद्भागवतका पाठ सुनाने चले जाइये। ऐसा करनेसे हम कम-से-कम भूखों मरनेसे तो बच जायँगे। ब्राह्मणीकी बात मानकर ब्राह्मण देवता राजाके पास पहुँचे और बोले—'राजन्! मैं आपको भागवत सुनाना चाहता हूँ।' राजाने उत्तर दिया—'ब्राह्मण देवता! मैं अभी भागवत-पाठ सुननेमें असमर्थ हूँ; क्योंकि कोषमें अधिक धन नहीं है।' ब्राह्मण निराश हो वहाँसे भी वापस लौट आये।

दूसरे दिन ब्राह्मण श्रीमद्भागवतकी पुस्तक लेकर घरसे निकले तो बहुत दुःखी थे। वे अन्यमनस्कभावसे जंगलकी ओर चले गये। थोड़ी दूर जानेपर जंगलमें उन्हें शंकरजीका एक बहुत पुराना मन्दिर दिखायी दिया। ब्राह्मण अपनी भागवतकी पुस्तक लेकर वहीं बैठ गये। कुछ देरतक वे विचारमग्न बैठे रहे। फिर जैसे कुछ निश्चय करके वे यकायक उठे, पेड़ोंसे कुछ टहनियाँ तोड़कर इकट्ठी कीं, उनसे एक झाड़ू बनायी और उससे पूरा मन्दिर साफ कर दिया। पासके सरोवरसे वे एक लोटा जल भर लाये। कुछ पुष्प तथा बिल्व-पत्र लाकरके जल, बिल्वपत्र और पुष्प शंकरजीपर चढ़ाये; पश्चात् मूर्तिके सामने अपना आसन लगाकर भगवान् शंकरको भागवतकी कथा सुनाने लगे। बहुत देरतक कथा कहनेके बाद ब्राह्मणने भागवत बंद की और बाहर आ गये। मन्दिरकी सीमामें ही पपीतेके दो पेड़ थे। उनमें बहुतसे पपीते फले हुए थे, लेकिन अभी कच्चे थे। ब्राह्मणने शंकरजीको प्रणाम किया और बोले—'भगवन्! आजके कथा-वाचनका पारिश्रमिक दो पपीते ले जा रहा हूँ।' उन्होंने केवल दो ही पपीते पेड़से तोड़कर गमछेमें बाँधे और घर चल दिये।

घर आकर ब्राह्मणने ब्राह्मणीको केवल इतना ही बतलाया कि आजसे उन्हें स्थायीरूपसे कथावाचनका कार्य मिल गया है। भेंटमें प्राप्त दोनों पपीते भी निकालकर उन्होंने उसके सामने रख दिये। ब्राह्मणी भी संतोषी प्रवृत्तिकी थी। भगवान्‌ने जो कुछ दिया, उसके लिये कृतज्ञभावसे सिर झुकाकर ब्राह्मण-पत्नीने प्रसन्नमनसे ग्रहण कर लिया।

अब ब्राह्मणदेवका यही दैनिक क्रम चलता रहा। कुछ समय बाद पेड़के पपीते समाप्त होने लगे। जब ब्राह्मणने पेड़से अन्तिम दो पपीते तोड़ लिये, तब वे शंकरजीके आगे सिर झुकाकर बोले—'प्रभो! आज तो पपीते भी समाप्त हो गये। कलसे मेरे निर्वाहके लिये प्रबन्ध कर दीजियेगा! मुझे तो एकमात्र आपका ही सहारा है।' ब्राह्मणको शंकरजीमें इतना अधिक श्रद्धा-विश्वास हो गया था कि प्रार्थना करनेके बाद वे निश्चिन्त हो सहजभावसे घर लौट आये।

अगले दिन जब शंकरजीको भागवतकी कथा सुना रहे थे, तभी पासके गाँवका कोई एक व्यक्ति आकर

'सीधा' (भोजनके लिये कच्चे अन्न) रख गया। शंकरजीकी प्रेरणासे अब वह व्यक्ति नित्य-प्रति ही सीधा रख जाता। आस-पासके स्थानोंसे अन्य लोग भी आकरके कुछ-न-कुछ चढ़ावा चढ़ा जाते। इस प्रकार ब्राह्मणका निर्वाह होने लगा।

एक दिन ब्राह्मणीने ब्राह्मणसे कहा—'लड़की सयानी हो चली है। उसके विवाहके लिये प्रबन्ध करना है। आज यजमानसे जिक्र कर दीजियेगा।' ब्राह्मण—'अच्छा!' कहकर मन्दिरकी ओर चल दिये। उस दिन जब वे मन्दिरमें कथा कह चुके तो शंकरजीके आगे नतमस्तक होकर प्रार्थना करने लगे—'भगवन्! पुत्रीके विवाहका प्रबन्ध करना है। मैं तो सर्वथा असमर्थ और दीन हूँ। आपकी ही शरण हूँ।' इतना कहकर वे घर लौट आये। ब्राह्मणीने पूछा तो बता दिया कि 'यजमानसे जिक्र कर दिया है। प्रबन्ध हो जायगा।' ब्राह्मणी आश्वस्त हो गयी; क्योंकि ब्राह्मणको जबसे ये यजमान मिले थे, तबसे खाने-पीनेका कोई कष्ट नहीं था। इस प्रकार पतिके यजमानपर ब्राह्मणीका भी पूर्ण विश्वास और भरोसा था। ब्राह्मणीने हिसाब जोड़कर बताया कि पूरे पाँच सौ रुपयोंमें विवाह-कार्य ठीकसे सम्पन्न हो जायगा।

दूसरे दिन जब ब्राह्मण मन्दिरमें पुत्रीके विवाह-हेतु आवश्यक रकमके लिये शंकरजीसे निवेदन कर रहे थे, तब निकटस्थ गाँवके कोई महाजन बाहर खड़े हो कौतूहलवश ब्राह्मणद्वारा शंकरजीसे की गयी प्रार्थना सुन रहे थे। वे ब्राह्मणके संतोष तथा त्यागवृत्तिकी प्रशंसा एवं कीर्ति सुन करके उनके दर्शनोंके लिये उस दिन वहाँ चले आये थे। दूसरे दिन ब्राह्मणके आनेसे पहले ही वे धनाढ्य व्यक्ति चुपचाप मन्दिरमें आकर शंकरजीके चरणोंमें एक हजार रुपये एक थैलीमें रखकर परिणाम जाननेके लिये बाहर एक स्थानपर छिपकर खड़े हो गये। बादमें जब ब्राह्मण मन्दिरमें पहुँचे तो वहाँ मूर्तिके पास उन्होंने रुपयोंकी एक थैली रखी देखी। ब्राह्मणके मनमें कोई शङ्का तो थी नहीं। उन्होंने थैलीमेंसे मात्र पाँच सौ रुपये लिये; शेष पाँच सौ रुपये उसी थैलीमें छोड़कर उसे पूर्ववत् शंकरजीके चरणोंमें रख दिया।

बाहर खड़े हुए महाजन यह सब देखकर ब्राह्मणकी सत्यता, निर्लोभिता तथा त्यागवृत्तिपर चकित रह गये। ब्राह्मण देवता जब बाहर आये तो उन्होंने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और सविनय अनुरोधपूर्वक बोले—महाराज! आप शेष पाँच सौ रुपये भी लेते जायँ। जब भगवान् भोलेनाथ आपपर प्रसन्न हैं तो फिर लेनेमें आपको क्या आपत्ति है? ब्राह्मणके मनमें फिर भी तनिक भी लोभ न हुआ। उन्होंने सहजभावसे कहा—'नहीं भाई! मुझे जितनी आवश्यकता थी, उतने रुपये मैंने ले लिये। बाकी रुपयोंसे मुझे कोई सरोकार नहीं है। जब आवश्यकता नहीं तो फिर उन्हें लेकर मैं क्या करूँगा?' इतना कहकर ब्राह्मण-देवता अपने घर चले गये।

उन श्रद्धालु धनाढ्य धार्मिकने उन शेष रुपयोंसे उस जीर्ण-शीर्ण मन्दिरका पुनर्निर्माण करा दिया। अब वहाँ दर्शनार्थियोंकी भीड़ लगने लगी। पर ब्राह्मणके नियममें कभी कोई अन्तर न आया। वे नित्य-प्रति शंकरजीके समक्ष नियमसे कथा कहते और चढ़ावेमें जो कुछ प्राप्त होता, उससे अपनी आवश्यकता भर लेकर अपने घर चले जाते। ब्राह्मणदम्पति अब अनन्तके आश्रयको पाकर सर्वथा निश्चिन्त हो भगवद्भजन करते हुए आनन्दमय जीवन व्यतीत करने लगे। [भगवान् आशुतोषने योगक्षेमका वहन तो किया ही उस ब्राह्मणदम्पतिको आत्मदर्शन देकर उनके विश्वासका वाञ्छासमधिक फल भी दे दिया। वे दोनों धन्य हो गये। कथाकी महिमा कम नहीं है। अतः कथा-वाचन और श्रवण दोनों अनुष्ठेय हैं **'ग्रामे-ग्रामे कथा कार्या'**]

पढ़ो, समझो और करो

(१)

हमारे ये दिव्य महान् ग्रन्थ

बात २२ मई १९८० की है। संध्या-समय लगभग साढ़े पाँच बजेके बाद हमारी कम्पनी—इण्डियन ऑयल कारपोरेशन लिमिटेड (अनुसंधान एवं विकास-केन्द्र) फरीदाबादकी एक बिल्डिंगमें अकस्मात् आग लग गयी। आग बुझानेके सभी आधुनिक प्रयासोंके बावजूद इस अग्निकाण्डसे करोड़ों रुपयोंकी क्षति हुई। कम्पनीके जिस भवनमें आग लगी थी उसमें हमारे एक साथी काम करते हैं। वे ईश्वर-विश्वासी तथा धार्मिक आचार-विचारके हैं। उन्होंने अपने आफिसमें गोदरेजके छः खानेवाले लॉकरमें अपने कुछ आवश्यक सामानके साथ कुछ पुस्तकें—जिनमें एक अलग कपड़ेमें बँधी श्रीमद्भगवद्गीता तथा रामचरितमानसकी एक-एक प्रति भी थी; समयानुसार पढ़नेके लिये रखी थी।

उस भयंकर अग्निकाण्डमें लॉकरमें रखे उनके सभी सामान जल गये। पहननेके वस्त्र तथा सभी पुस्तकें जलकर राख हो गयीं; यहाँतक कि वह वस्त्रतक भी न बचा, जिसमें गीता-रामायण लपेटी हुई रखी थीं। किंतु महान् आश्चर्य कि गीता एवं रामायणका एक पन्नातक नहीं झुल्सा। दोनों ग्रन्थोंको यथावत् सुरक्षित देखकर सभीको बड़ा विस्मय और सुखद कौतूहल हुआ। इस चमत्कारने गीता-रामायणकी पवित्रता तथा महिमाके प्रति लोगोंमें असीम विश्वास उत्पन्न कर दिया। हमारे इन महान् वन्दनीय धर्म-ग्रन्थोंके प्रति सभी सहज श्रद्धासे अभिभूत हो उठे।

—शिवपूजन दुबे, अनुसंधान-अधिकारी

(२)

यह है ईमानदारी !

बिहार प्रदेशके निवासी श्रीमहावीरसिंह हमारे यहाँ सम्बलपुरमें सन् १९३६में आये थे। सन् ३६ से ४५ तक वे पुलिसविभागमें हवलदारका काम करते रहे। सन् १९४२में इस कार्यसे विरक्ति (ग्लानि) हो जानेके कारण वे पुलिसकी नौकरी छोड़कर कपड़ोंकी फेरी-(घूम-घूमकर कपड़ा बेचने-)का कार्य करने लगे। सन् १९५९-६०की अवधिमें उन्होंने १५०० (पंद्रह सौ) रुपये व्यापारके कामके लिये हमारे यहाँसे उधार लिये, जिन्हें थोड़ा-थोड़ा करके वापस करते रहे। उस रकममेंसे ६९१-०० रु० बाकी रह गये, जिन्हें उन्होंने नहीं दिया। हम भी इस रकमके विषयमें भूल गये। बात आयी-गयी-सी हो गयी।

तेरह वर्ष बाद दि० १३-११-७३को उन्होंने अचानक आकर अपने हिसाबके शेष ६९१.०० रुपये जमा कर दिये। हमने उनके आग्रहके कारण बाकी रकम लेकर हिसाब चुकता कर दिया; किंतु उन्होंने १४-१०-७८ को पुनः आकर ब्याजके १४२८.०० रु० (एक हजार चार सौ अट्ठाईस) रुपये भी ले लेनेका अनुरोध किया और हमारे 'ना' कहनेपर भी उक्त रकम हठ करके दे गये। ब्याजकी रकम देते समय ऋणसे उद्धार कर देनेके लिये जब उन्होंने बहुत अनुनय-विनय की तो हम उनके भावको देखकर चमत्कृत रह गये और हमें उनकी बात माननी पड़ी।

हमने तो शेष बचे मूल धनको भी न देनेके लिये उनसे कहा था, पर उन्होंने तेरह और अट्ठारह वर्षोंके बाद ब्याजसहित कुल धन अदा करनेमें ही पूर्ण संतोष माना। यद्यपि उसके संतोषार्थ हमें विवशतासे ब्याजकी रकम स्वीकार तो करनी पड़ी, पर मनके विरुद्ध तथा परेच्छासे प्राप्त उक्त (ब्याजकी) रकमको हमने स्थानीय एक गोशालामें गोसेवार्थ दे दिया। फिर भी उन सज्जनकी सत्यता और उच्चकोटिकी नैतिकताको हम कभी भूल नहीं सकेंगे। आजके इस भ्रष्ट युगमें

अधिकतर लोग स्टाम्पपर लिखी हुई रकमको ही वापस करनेकी कोई परवा नहीं करते; फिर मना करनेपर भी व्याजकी बड़ी रकम स्वेच्छासे भला कौन देना चाहता है? साधारण मध्यवर्गीय स्थितिके वे सज्जन अपने इस उच्चकोटिके व्यवहार और नैतिकताके कारण किसी भी बड़े-से-बड़े उदार धनी-मानी व्यक्तिकी तुलनामें आदरणीय हैं। उनकी ईमानदारी साहुकारी धन्धेमें आदर्श मानी जानी चाहिये। प्रेषक—श्रीओंकारमलजी पोद्दार

(३)

गीता माताकी अनन्य कृपा

घटना दिनाङ्क १५।७।८० मङ्गलवारकी है। मैं कार्यवश अपने खेतपर, जहाँ कुछ कृषि-श्रमिक कार्य कर रहे थे, गया था। भगवत्कृपासे मुझे गीता पढ़नेका व्यसन-सा है। प्रायः नित्यप्रति मैं (अवकाशानुसार किसी भी समय) एक वार श्रीमद्भगवद्गीताका सम्पूर्ण पाठ कर लिया करता हूँ। उस दिन भी कार्यका साधारणतः निरीक्षण कर मैं एकान्तमें स्थित एक आम्र-वृक्षके नीचे उसके तनेका सहारा लेकर मिट्टीके एक टीलेपर बैठकर गीताका पाठ करने लगा—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

गीताके ९वें अध्यायके इस २२वें श्लोकको पढ़ते-पढ़ते चित्त सर्वथा तल्लीन हो गया। मैं पाठ करनेमें इस प्रकार पूर्णतः लीन था कि एक विषधर सर्प कहींसे आकर जिस स्थानपर मैं बैठा था, वहाँ आम्रवृक्षके तने और मेरे शरीरके बीचमें होकर निकला, जिसका मुझे कुछ भी पता न चला। वह भयंकर विषधर पेड़के तनेपरसे जब मेरी पीठ-से पूर्णतया सटकर नीचे (पृथ्वी) की ओर जाने लगा, तब मुझे पीठपर एक विशेष प्रकारके कोमल स्पर्शका भान हुआ। मैंने जैसे ही बायें हाथसे उस ओर टटोला, अचानक मेरा हाथ सर्पकी पूँछपर पड़ा, वैसे ही मुझे एक तेज फुत्कार सुनायी दिया। मैं घवड़ाकर तुरंत उठ बैठा। पर सर्पको देखकर मुझे कुछ भी भय न हुआ। वह भी धीरे-धीरे आगे बढ़ता जा रहा था। उसने मुझे न तो कोई हानि पहुँचायी, न चोट की और न भयभीत ही किया। जब सर्प अपने गन्तव्यकी ओर चला गया और मेरी दृष्टिसे ओझल हो गया तो मैं भी सहज भावसे वहाँसे चला आया और अन्यत्र स्थानपर बैठकर पुनः गीताजीका पाठ करने लगा।

गीता माताकी कृपा और उनपर मेरे श्रद्धा-विश्वासने ही उस दिन मुझे मृत्युके मुखमें जानेसे बचाया था, इसमें कोई संदेह नहीं है। घर आकर जब मैंने अपने आत्मीयजनोंसे उक्त घटनाकी चर्चा की तो गीता माताके प्रत्यक्ष प्रभाव तथा गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्ण-की मङ्गलमयी कृपाकी अनुभूति कर सभीने श्रीभगवान्‌के प्रति कृतज्ञता प्रकट की।

—माँगीलाल व्यास, एम० ए०, बी० एड्०

(४)

आदर्श सौजन्य

बात १९७८की दीपावलीके आस-पासकी है। मैं पत्नीसहित भगवान् त्र्यम्बकेश्वरके दर्शनके लिये गया हुआ था। लौटते समय अपने आफिसके कार्यसे बम्बई भी जाना था। हमने नासिकसे बम्बईके लिये शामको लगभग चार बजे बस पकड़ी। अपेक्षा थी कि रातको आठ बजेतक हम बम्बई पहुँच जायँगे और अपने कार्यालयके अतिथि-गृहमें रात्रि-विश्राम करेंगे। किंतु दुर्भाग्यसे मार्गमें यान्त्रिक गड़बड़ी हो जाने और बस ठीक होनेकी पर्याप्त प्रतीक्षा करनेके बाद भी हमें अन्य बससे ही बम्बई जाना पड़ा। इस परिस्थितिमें हम किसी भी दशामें रात ग्यारह बजेके पहले बम्बई नहीं पहुँच सकते थे और बस-स्टैण्डसे अपने कार्यालयतक टैक्सीद्वारा जानेमें एक घण्टा और लग जाना भी संभव था।

हमारे कार्यालयका अतिथि-गृह सामान्यतः रातको दस बजे बंद हो जाता है। एक तो मैंने पहलेसे कोई

सूचना नहीं दी थी, दूसरे, वहाँके व्यवस्थापक भी मेरे लिये अपरिचित थे। इससे मेरे मनमें अनेक आशङ्काएँ उठ रही थीं। 'यदि कार्यालयके अतिथि-गृहमें हमें स्थान न मिल सका तो इतनी रातको हम कहाँ जायँगे ? पत्नीका स्वास्थ्य भी ठीक नहीं था। अधिक चलना या चढ़ना-उतरना इनके लिये काफी कष्टप्रद था। बम्बईके होटलोंसे भी मैं पूर्ण परिचित न था, फिर, इतनी रातमें पत्नीके साथ बम्बईके होटलोंमें स्थान खोजनेके लिये भटकना और किसी अपरिचित स्थानपर सहसा ठहर जाना, आजके समयको देखते हुए विपत्ति मोल लेना था; पर्याप्त कष्टप्रद और आर्थिक दृष्टिसे यह मँहगा तो था ही। इस विषयमें हम दोनों बड़े चिन्तित थे। प्रकटतः हमारी मुख-मुद्राओंपर परिस्थितिकी गम्भीरता तथा भावी आशङ्काओंकी रेखाएँ स्पष्ट उभर आयी थीं। पारस्परिक विमर्शद्वारा अनेक सम्भावनाओंपर विचार करके भी जब हम किसी निरापद निर्णयपर पहुँच नहीं पा रहे थे, तभी हमारी बगलमें बैठे एक अपरिचित सज्जनने, सम्भवतः हमारे पारस्परिक वार्तालापको सुनकर अथवा अपने अनुभवसे हमारी परिस्थितिका आकलनकर सहसा हमारे सम्मुख बहुत नम्रतापूर्वक यह प्रस्ताव रखा कि 'यदि आपको आपत्ति न हो तो मैं बम्बईमें आपका आतिथ्य करनेको तैयार हूँ।' मैंने उनके इस औदार्य तथा सहानुभूतिके लिये उन्हें धन्यवाद दिया, पर मेरी पत्नीको उनकी इस उदारतापर सहसा विश्वास न हुआ और उन्होंने अपने मनका भय उनके समक्ष स्पष्ट कर दिया। वे आश्वस्त हो जाना चाहती थीं कि क्या वे सज्जन अकेले हैं या उनके घरमें उनकी धर्मपत्नी और बच्चे भी हैं ? उक्त सज्जनने इस बातको जरा भी बुरा न मानते हुए शान्तिपूर्वक उत्तर देकर उनके कौतूहल और जिज्ञासाको शान्त कर दिया; साथ ही अपना पूरा परिचय भी दिया। वस्तुतः अब हमारे सामने उनका प्रस्ताव माननेके सिवा दूसरा कोई विकल्प भी न था। इसे प्रभु-इच्छा मानकर हमने प्रस्तावको स्वीकार कर लिया।

उनके यहाँ चौबीस घण्टोंके आवास-कालमें हमें यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि उन सज्जन तथा उनकी धर्मपत्नीने सच्चे वैष्णवकी तरह अपने सज्जनोचित व्यवहार तथा सहृदयतापूर्वक हमारी सेवा की और हमारी सुविधाओंका पूरा ध्यान रखा। हमारे आधी रातको पहुँचनेपर मना करनेपर भी उनकी पत्नी और पुत्रीने हमारे लिये गरम भोजन बनाया तथा हमारे रात्रि-विश्रामके लिये सुविधाजनक व्यवस्था की। सबेरे नहा-धोकर एवं खा-पीकर जब मैं अपने कार्यालय चला गया तब मुकुटभाईकी पत्नी मेरी पत्नीको साथ लेकर उनके लिये मार्केटिंग कराने चली गयीं तथा स्थानीय प्रमुख मन्दिरोंमें दर्शनार्थ भी उन्हें ले गयीं। शामको हमें भोजन करानेके बाद रेलवे-स्टेशनतक अपनी कारसे पहुँचा देना भी मुकुटभाईने अपना कर्तव्य समझा। उनकी पत्नी मार्गके अल्पाहारके लिये हमारे साथ पर्याप्त मात्रामें फल, सेब, अनार इत्यादि रख देना भी न भूलीं। उनकी आत्मीयता अतुलनीय थी। उसका कोई प्रतिदान नहीं हो सकता था। हम कृतज्ञतावश, मुग्धभावसे उन्हें बार-बार मात्र धन्यवाद देते रहे।

उन अपरिचित गुजराती-दम्पतिसे अनायास इस अप्रत्याशित रूपमें सहायता-सहयोग और सेवा प्राप्तकर उस दिन हमारी सारी कठिनाई ही दूर न हुई, अपितु हमें सब प्रकारकी सुख-सुविधाएँ भी प्राप्त हुईं, इससे हम कृतज्ञतासे भर गये। उनकी शालीनता तथा सौजन्यपूर्ण निःस्पृह व्यवहारने हमें इतना अधिक प्रभावित किया कि अपने सम्पर्कमें आनेवाले अगणित लोगोंसे उस प्रसङ्गकी चर्चाकर उनकी प्रशंसा स्वयं करनेमें तथा दूसरोंसे उनकी प्रशंसा सुननेमें हम आज भी आत्मसंतोषका अनुभव करते हैं। वस्तुतः उन सज्जन दम्पतिका सौजन्य आदर्श एवं अनुकरणीय था।

—ईश्वरलाल पी० वैद्य

भगवान् श्रीकृष्णका दिव्य अवतार

नव-नीरद-नीलाभ कृष्ण तन परम मनोहर।
त्रिभुवनमोहन रूपराशि रमणीय सुभग वर॥
कस्तूरी-केसर-चन्दन-द्रव-चर्चित अनुपम।
अङ्ग सकल सच्चिन्मय, सुषमामय, सुन्दरतम॥
कीर-चञ्चु-निन्दक निरुपम नासा मणि राजत।
कुञ्चित केश-कलाप कृष्ण लख अलि-कुल लाजत॥
सिर चूड़ा, शिखिपिच्छ, मुकुट मणिमय अत्युज्ज्वल।
कर्ण-युगल कमनीय कर्णिका कुण्डल झलमल॥
कुटिल भ्रुकुटि, दृग-युगल विशद विकसित अम्बुजसम।
रुचिर भङ्गिमा, ललित त्रिभङ्गी, मध्यम बंकिम॥
पीत वसन तडिताभ, दशन द्युतिमय, अरुणाधर।
मुख प्रसन्न, मुसुकान मधुर, मुरलिका मधुर कर॥
भक्त-भक्त नित सेवक-भक्तानुग्रह-कातर।
प्रेम-रसिक रस-प्रेम-सुधा-आस्वादन-तत्पर॥
व्रज-प्रिय व्रज-जन-सखा-स्वामि-सेवक तन-मन-धन।
नन्द-यशोदा-तनय बाल-व्रजरमणी-जीवन॥
भगवत्ता, सत्ता, ईश्वरता सारी तजकर।
व्रज-जन-सुख-हित हेतु द्विभुज निज-इच्छा-वपुधर॥
भाद्र-अष्टमी, कृष्ण पक्ष, बुधवार अनुत्तम।
शुभ रोहिणि नक्षत्र, मध्य-रजनी मङ्गलतम॥
हुए प्रकट श्रीनन्द-यशोदाके प्रिय सुत बन।
निज-स्वरूप-वितरण हित बनकर सबके निजजन॥

× × ×

दुष्टोंको निज धाम भेजकर, साधुजनोंका कर उद्धार।
किया धर्मका संस्थापन था, लेकर स्वयं दिव्य अवतार॥
वही पुण्य तिथि भाद्र-अष्टमी, कृष्णपक्ष मङ्गलमय आज।
सुरभित श्रद्धा-सुमन-राशिसे सभी सजाकर मङ्गल साज॥
नन्दालयमें आज महोत्सव वही हो रहा मधुर विशाल।
शीघ्र बुझा देगा, जो भव-दावानल सहसा अति विकराल॥
हम भी सब मिल आज मनावें, वही महोत्सव मङ्गलरूप।
भोगासक्ति-विनाशक, भव-बाधाहर, दायक प्रेम अनूप॥

—श्रीभाईजी

पंजीकृत-संख्या-जी० आर०-१३

श्रीवसुदेवजीद्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति

वसुदेव उवाच

विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः। केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक्॥
स एव स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाग्रे त्रिगुणात्मकम्। तदनु त्वं ह्यप्रविष्टः प्रविष्ट इव भाव्यसे॥
यथेमेऽविकृता भावास्तथा ते विकृतैः सह। नानावीर्याः पृथग्भूता विराजं जनयन्ति हि॥
सन्निपत्य समुत्पाद्य दृश्यन्तेऽनुगता इव। प्रागेव विद्यमानत्वान्न तेषामिह सम्भवः॥

एवं भवान् बुद्ध्यनुमेयलक्षणैर्ग्राह्यैर्गुणैः सन्नपि तद्गुणाग्रहः।
अनावृतत्वाद् बहिरन्तरं न ते सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुनः॥
य आत्मनो दृश्यगुणेषु सन्निति व्यवस्यते स्वव्यतिरेकतोऽबुधः।
विनानुवादं न च तन्मनीषितं सम्यग् यतस्त्यक्तमुपाददत् पुमान्॥
त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात्।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः॥
स त्वं त्रिलोकस्थितये स्वमायया बिभर्षि शुक्लं खलु वर्णमात्मनः।
सर्गाय रक्तं रजसोपबृंहितं कृष्णं च वर्णं तमसा जनात्यये॥
त्वमस्य लोकस्य विभो रिरक्षिषुर्गृहेऽवतीर्णोऽसि ममाखिलेश्वर।

(श्रीमद्भागवत १०। ३। १३-२१)

वसुदेवजीने कहा—'मुझे भलीभाँति ज्ञात हो गया कि आप प्रकृतिसे अतीत साक्षात् पुरुषोत्तम हैं। आपका स्वरूप केवल अनुभव और केवल आनन्द है। आप सभी बुद्धियोंके साक्षी हैं। आप सर्गके आदिमें अपनी प्रकृतिसे इस त्रिगुणमय जगत्की सृष्टि कर उसमें प्रविष्ट न होनेपर भी प्रविष्टके समान जान पड़ते हैं। जैसे जबतक महत्तत्त्व आदि कारण-तत्त्व पृथक्-पृथक् रहते हैं, तबतक उनकी शक्ति भी पृथक्-पृथक् होती है, जब वे इन्द्रियादि सोलह विकारोंके साथ मिलते हैं, तभी इस ब्रह्माण्डकी रचना करते हैं और इसे उत्पन्न कर इसीमें अनुप्रविष्ट-से जान पड़ते हैं, पर सच्ची बात तो यह है कि वे किसी भी पदार्थमें प्रवेश नहीं करते। कारण यह है कि उनसे बनी हुई जो भी वस्तु है, उसमें वे पहलेसे ही विद्यमान रहते हैं। इस तरह बुद्धिके द्वारा केवल गुणोंके लक्षणोंका ही अनुमान किया जाता है और इन्द्रियोंके द्वारा केवल गुणमय विषयोंका ही ग्रहण होता है। यद्यपि आप उनमें रहते हैं, फिर भी उन गुणोंके ग्रहणसे आपका ग्रहण नहीं होता। कारण यह है कि आप सब कुछ हैं, सबके अन्तर्यामी हैं और परमार्थ सत्य, आत्मस्वरूप हैं। गुणोंका आवरण आपको ढक नहीं सकता। इसलिये आपमें न बाहर है न भीतर। फिर आप किसमें प्रवेश करेंगे? जो अपने इन दृश्य गुणोंको अपनेसे पृथक् मानकर सत्य समझता है, वह अज्ञानी है। विचार करनेपर ये देह-गेह आदि पदार्थ वाग्विलासके सिवा और कुछ नहीं सिद्ध होते। तत्त्वतः जिस वस्तुका अस्तित्व नहीं है, उसको सत्य माननेवाला पुरुष बुद्धिमान् कैसे हो सकता है? प्रभो! कहते हैं कि आप स्वयं समस्त क्रियाओं, गुणों और विकारोंसे रहित हैं। फिर भी इस जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलय आपसे ही होते हैं। यह बात परम ऐश्वर्यशाली परब्रह्म परमात्मा आपके लिये असंगत नहीं है; क्योंकि तीनों गुणोंके आश्रय आप ही हैं, इसलिये उन गुणोंके कार्य आदिका आपमें ही आरोप किया जाता है। आप ही तीनों लोकोंकी रक्षा करनेके लिये अपनी मायासे सत्त्वमय शुक्लवर्ण (पोषणकारी विष्णुरूप) धारण करते हैं, उत्पत्तिके लिये रजःप्रधान रक्तवर्ण (सृजनकारी ब्रह्मारूप) और प्रलयके समय तमोगुणप्रधान कृष्णवर्ण (संहारकारी रुद्ररूप) स्वीकार करते हैं। प्रभो! आप सर्वशक्तिमान् और सबके स्वामी हैं। इस संसारकी रक्षाके लिये ही आपने मेरे घर अवतार लिया है।'